इकाई–2.

सार्वजनिक राजस्व– राजस्व के मुख्य स्रोत कर, ऋण अनुदान एवं सहायता का अर्थ एवं प्रकार, भारतीय कर ढांचे की विशेषताएँ, भारत में कर सुधार, कराधान के सिद्धान्त, कराधान में न्याय की धारणा, कर वेध क्षमता, प्रभाव एवं कर चोरी।

इकाई–3.

सार्वजनिक व्यय– सार्वजनिक व्यय का अर्थ, सार्वजनिक व्यय का उत्पादन, बेरोजगारी, वितरण एवं आर्थिक विकास पर प्रभाव, विकासशील अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक व्यय की भूमिका, सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त।

इकाई–4.

सार्वजनिक बजट– सार्वजनिक बजट के प्रकार, बजट का आर्थिक एवं क्रियात्मक वर्गीकरण, आर्थिक नीति के उपकरण, सार्वजनिक ऋण की आवश्यकता, सार्वजनिक ऋण के स्रोत एवं भुगतान, मुद्रा पूर्ति, आर्थिक वृद्धि एवं आर्थिक स्थिरता में लोक ऋण का प्रभाव।

इकाई–5.

भारत में लोक वित्त पद्धति– संघीय वित्त में मुख्य वित्तीय मुद्दे, केन्द्र एवं राज्य के मध्य वित्तीय स्रोतों के प्रभावी वर्गीकरण के सिद्धान्त एवं वित्तीय असंतुलन की मुख्य समस्याएँ एवं इसके समाधोजन के उपाय, स्थानीय निकाय एवं उनके वित्तीय दायित्व, स्थानीय वित्त के स्रोत।

इकाई–6.

मौद्रिक नीति– अर्थ उद्देश्य एवं महत्व, उदारीकरण के पूर्व एवं पश्चात् की मौद्रिक नीतियाँ, राजकोषीय नीति एवं अवयव भारत की राजकोषीय नीति की कमियाँ, राजकोषीय नीति की कमियां दूर करने के उपाय।

❑❑

लोक-वित्त

इकाई-1

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर

प्रश्न–1. लोक वित्त या राजस्व की पृष्ठभूमि को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– राजस्व की पृष्ठभूमि– पुराने समय में राजस्व के अध्ययन का कोई विशेष महत्व नहीं था, क्योंकि उस समय तक सरकार आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं किया करती थी। राज्य या सरकार का कार्य केवल देश को विदेशी आक्रमणों से बचाना एवं आन्तरिक सुरक्षा की व्यवस्था करना होता था। अतः इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सरकार धन जुटाने के लिए लगान एवं चुंगी जैसे कर ही लगाती थी। किन्तु 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से राजस्व के अध्ययन का महत्व निरन्तर बढ़ता गया है। अब सरकारें आर्थिक विषयों में अधिक हस्तक्षेप करने लगी है। परिणामतः राजस्व या लोकवित्त का महत्व भी अधिक बढ़ गया है।

राजस्व में शासन व्यवस्था द्वारा प्राप्त की जाने वाली आय एवं व्ययों का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। राजस्व का मूल अर्थ सरकारों के आय-व्यय से है और सरकारों का अर्थ केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन-सत्ताओं से लगाया जाता है। राजस्व का क्षेत्र वर्तमान समय में अधिक विस्तृत और व्यापक हो गया है। इसें सार्वजनिक ऋण एवं वित्तीय प्रशासन भी शामिल है।

राज्य की आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि के साथ-साथ लोक वित्त का आर्थिक क्षेत्र में महत्व बढ़ता जा रहा है। आज सरकार देश के आर्थिक जीवन को नियमित और नियंत्रित करती है तथा सरकार के इस कार्य में लोक वित्त एक महत्वपूर्ण अस्त्र का कार्य करता है। **फिण्डले शिराज** के शब्दों में– "राज्य की बढ़ती हुई क्रियाओं के लिए आर्थिक वित्त की आवश्यकता पड़ती है और इस वित्त को विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं पर सतर्कता से व्यय करना पड़ता है। यह सब लोक वित्त के सिद्धान्तों की सहायता से ही किया जा सकता है।" भारत जैसे देश में, जहाँ संविधान में देश में समाजवादी अर्थव्यवस्था को स्थापित करने तथा कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने का संकल्प लिया गया है, लोक वित्त का विशेष महत्व है।

प्रश्न–2. राजस्व (लोक–वित्त) से क्या आशय है? इसकी प्रकृति एवं क्षेत्र बताइये।

उत्तर– राजस्व (लोक–वित्त) का अर्थ– राजस्व एक ऐसी आर्थिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक सत्ता अपने सार्वजनिक अधिकारियों के माध्यम से अर्थव्यवस्था के भिन्न क्षेत्रों से प्राप्त आय का आकलन संग्रहण करने के साथ-साथ देश में कल्याणकारी कार्यों पर व्यय राजनीति की यथोचित परिकल्पना प्रस्तुत करता है।

राजस्व (लोक–वित्त) की प्रकृति– राजस्व एक स्वतंत्र विषय के रूप में विज्ञान और कला दोनों ही है। इसका विवेचन इस प्रकार है–

राजस्व (लोक–वित्त) : एक विज्ञान के रूप में

'किसी भी विषय के क्रमबद्ध ज्ञान को ही विज्ञान कहते हैं।' इस दृष्टि से राजस्व में सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक ऋण का सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है तथा इसके लिये सम्बन्धित नियम एवं सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं।

प्रसिद्ध राजस्व अर्थशास्त्री प्लेहन ने राजस्व को विज्ञान मानने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं–

(1) यह मानवीय ज्ञान के एक विशिष्ट क्षेत्र का अध्ययन करता है जो सार्वजनिक आय, व्यय एवं ऋण से सम्बन्धित है।

(2) राजस्व में सिद्धान्तों का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है, जो कि विज्ञान का गुण है।

(3) इसके अध्ययन में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता है।

(4) इसके कुछ विशिष्ट नियम हैं जो राजस्व में ही लागू होते हैं, जैसे– अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त।

(5) इसमें निश्चित व्याख्या एवं पूर्वानुमान की भी क्षमता है।

वास्तविक विज्ञान में केवल वस्तुस्थिति का अध्ययन करके क्या है ? का विश्लेषण किया जाता है। दूसरे शब्दों में, वास्तविक विज्ञान, सैद्धान्तिक एवं तथ्यात्मक पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। आदर्श विज्ञान में नीतिगत पहलुओं का अध्ययन होता है और यह विज्ञान, क्या होना चाहिये ? का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

राजस्व में विज्ञान के दोनों ही पहलुओं 'वास्तविक एवं आदर्श' का अध्ययन किया जाता है। वास्तविक विज्ञान की भाँति अर्थशास्त्र में सैद्धान्तिक एवं तथ्यात्मक पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। करारोपण के नियम, लोक व्यय के सिद्धान्त, अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त, इत्यादि राजस्व को वास्तविक विज्ञान की श्रेणी प्रदान करते हैं।

आदर्श विज्ञान की भाँति राजस्व में आदर्श पहलू का अध्ययन भी किया जाता है जिससे अधिकतम सामाजिक कल्याण हो सके। उदाहरण के लिये, यदि हम सामाजिक न्याय वितरण में समानता लाना चाहें तो अमीर व्यक्तियों पर कर लगाकर उससे प्राप्त आय को सरकार द्वारा निर्धनों पर व्यय किया जाना चाहिये। यदि देश में मन्दी की स्थिति विद्यमान है, तो राहत कार्यों पर सरकार द्वारा व्यय करके रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। प्रो. केन्स के अनुसार, 'कला दिये हुये उद्देश्यों की प्राप्त के लिये नियमों की प्रणाली है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान के रूप में राजस्व संसाधनों की क्रमबद्ध संग्रह पद्धति को प्रस्तुत करता है तथा कला के रूप में राजस्व एकत्रित संसाधनों के क्रियान्वयन का चित्र प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में, राजस्व एक विज्ञान एवं कला दोनों ही है।

राजस्व का क्षेत्र

वर्तमान समय में कल्याणकारी राज्यों की स्थापना के उद्देश्य ने राजस्व एवं उससे जुड़ी क्रियाओं के क्षेत्र को विस्तृत एवं व्यापक बनाया है। आज सरकारों का यह दायित्व हो गया है, कि अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता के साथ विकास किया जाये, बेरोजगारी को दूर कर उत्पादन में वृद्धि की जाये एवं आर्थिक स्थिरता के साथ विकास किया जाये, बेरोजगारी को दूर कर उत्पादन में वृद्धि की जाये एवं आर्थिक विषमताओं को दूर कर सामाजिक न्याय की स्थापना की जाये। इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति में राजस्व सम्बन्धी क्रियायें बहुत सहायक हैं। यही कारण है कि आजकल बजट नीति में कार्यात्मक वित्त पर जोर दिया जाता है।

आधुनिक समय में राजस्व के क्षेत्र को प्रमुखतः चार भागों में बाँटा जा सकता है। हेरोल्ड ग्रीज़ के अनुसार, 'राजस्व खोज की वह शाखा है जो सरकारों की आय तथा व्यय से सम्बन्धित है। आधुनिक समय में उसके चार बड़े भाग हैं– राजकीय आय, राजकीय व्यय, राजकीय ऋण और राजकोषीय व्यवस्था की कुछ समस्यायें जैसे राजकोषीय प्रबन्ध एवं राजकोषीय नीति।'

प्रो. फिण्डले शिराज़ और प्रो. प्लेहन ने राजस्व के प्रमुख चार विभागों का उल्लेख किया है, जो निम्न प्रकार से हैं–

(1) **सार्वजनिक व्यय**– यह राजस्व का अत्यन्त महत्वपूर्ण विभाग है। क्योंकि राजस्व का प्रारम्भ सार्वजनिक व्यय अथवा लोक आय से ही होता है।

(2) **सार्वजनिक आय**– सार्वजनिक व्यय की पूर्ति हेतु सरकार आय प्राप्त करने की व्यवस्था करती है। सार्वजनिक आय के अन्तर्गत इस बात पर अध्ययन किया जाता है कि सरकार के आय के स्रोत क्या हैं एवं आय से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त एवं समस्यायें कौन-कौन सी हैं ? सार्वजनिक आय में करारोपण के सिद्धान्त, करों का भार एवं विवर्तन, करदान क्षमता, आदि का अध्ययन किया जाता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि इसके अन्तर्गत सार्वजनिक आय के विभिन्न स्रोत एवं उनको प्राप्त करने के सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है।

(3) **सार्वजनिक ऋण**– अर्थशास्त्रियों के मतानुसार बजट सन्तुलित रहना चाहिये अर्थात् सरकार की आय और व्यय बराबर रहना चाहिये किन्तु आजकल सन्तुलित बजट की मान्यता समाप्त हो गयी है, क्योंकि राज्य के कार्यों में वृद्धि होने से सार्वजनिक आय की तुलना में सरकार को अधिक व्यय करना पड़ता है और अतिरिक्त व्यय की पूर्ति के लिये सरकार ऋण का सहारा लेती है। सार्वजनिक ऋण के अन्तर्गत ऋण के स्रोत, इसके विभिन्न सिद्धान्त, सार्वजनिक ऋण के भुगतान तथा इन ऋणों के प्रभाव एवं भार का अध्ययन किया जाता है।

(4) **वित्तीय प्रशासन**– राजस्व की सार्वजनिक व्यय, आय एवं ऋणों की व्यवस्था के लिये एक प्रशासन तन्त्र की आवश्यकता होती है, जैसे– सार्वजनिक आय का एक अलग से विभाग होता है जिसके अन्तर्गत बचत निर्माण को प्रोत्साहित किया जाता है, सार्वजनिक व्यय की भी अलग रूप से व्यवस्था एवं नियन्त्रण किया जाता है एवं सार्वजनिक ऋणों के लेन-देन का भी पूरा हिसाब रखा जाता है।

प्रश्न–3. सार्वजनिक वित्त या लोक वित्त या राजस्व के महत्व को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– सार्वजनिक वित्त या लोक वित्त या राजस्व का महत्व– वर्तमान में राजस्व के महत्व को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है–

(1) **राज्य के बढ़ते हुये कार्य**– वर्तमान समय में गहन और विस्तृत दोनों ही रूपों में राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई है। गहन रूप में इसलिये कि जो कार्य सरकार द्वारा पहले भी किये जाते थे, जैसे– सुरक्षा और शान्ति व्यवस्था की स्थापना, आज उनका सम्पादन अधिक खर्चीला हो गया है, जैसे– युद्ध की तकनीकी में परिवर्तन होने से आजकल उस पर भारी मात्रा में व्यय किया जाता है। वर्तमान में विश्व में हथियारों

के संग्रहण में बड़ी मात्रा में व्यय किया जा रहा है। विस्तृत रूप से इसलिये कि जो कार्य पहले सरकार नहीं करती थी, वे अब सरकार द्वारा किये जाते है, जैसे- परिवहन, विद्युत, सामाजिक सुरक्षा, बीमा, बैंकिंग, विकास को तीव्र करने में राजस्व की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है कि अर्ध-विकसित देशों की प्रमुख समस्या आर्थिक विकास करने की है लेकिन इन देशों में आर्थिक साधनों की कमी रहती है।

(2) उत्पादन एवं उपभोग करने में महत्व- प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियों का मत था कि राजस्व के अन्तर्गत केवल उन्हीं समस्याओं का अध्ययन किया जाता है जो सरकारी व्यय और आय के फलस्वरूप पैदा होती है, लेकिन अब इस विचार में परिवर्तन हो रहा है। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि राजस्व की क्रियाओं का आर्थिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

(3) सामाजिक न्याय की स्थापना- राजस्व की क्रियाओं से देश में आय और सम्पत्ति के वितरण में समानता लाई जा सकती है, क्योंकि इन क्रियाओं से आय अथवा क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण एक वर्ग से दूसरे वर्ग में होता है। जैसे- करदाता सरकार को कर देता है और यही कर से प्राप्त आय सरकार, सार्वजनिक व्यय के माध्यम से दूसरे लोगों पर व्यय कर देती है। धनी व्यक्तियों पर अधिक कर लगाये जाते है और सरकार अपेक्षाकृत निर्धन व्यक्तियों पर व्यय करती है तो इससे आय के वितरण में समानता आती है एवं सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकती है, क्योंकि धन का पुनर्वितरण निर्धनों के पक्ष में होता है।

(4) आर्थिक स्थिरता बनाये रखने के लिये- अर्थव्यवस्था में व्यापार-चक्र (मन्दी एवं तेजी) के कारण आर्थिक स्थिरता नहीं रह पाती और उत्पादन, रोजगार तथा अन्य व्यापारिक क्रियाओं पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। 1930 की व्यापक मन्दी ने इसे स्पष्ट कर दिया है। लेकिन उपयुक्त कर प्रणाली एवं सार्वजनिक व्यय के फलस्वरूप उक्त उच्चावचनों को कम किया जाता है। जैसे- तेजी के काल में यदि सरकार ऋण वसूल करे और सही ढंग से कर लगावे तो बढ़ती हुई कीमतों को रोका जा सकता है। इसी प्रकार सार्वजनिक व्यय के द्वारा मन्दी को दूर किया जा सकता है।

(5) राष्ट्रीय आय में वृद्धि- राजस्व की नीतियों के द्वारा राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि की जा सकती है। यदि कर-प्रणाली इस प्रकार की है कि बचत और विनियोग को प्रोत्साहित किया जा सकता है तो इससे उत्पादन और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। इसी प्रकार यदि सार्वजनिक ऋण को उत्पादक कार्यों पर व्यय किया जाता है तो इससे भी राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। यदि राजस्व की क्रियाओं से व्यक्तिगत विनियोग प्रोत्साहित होते हैं तो इससे भी राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

(6) रोजगार में वृद्धि- राजस्व की क्रियाओं से देश में रोजगार में भी वृद्धि की जा सकती है। यदि सरकार की कर प्रणाली इस प्रकार की है कि उससे ऐसे उद्योग प्रोत्साहित होते हैं जो रोजगार प्रधान हैं तो इससे रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। इसी

प्रकार सार्वजनिक व्यय के द्वारा भी रोजगार में वृद्धि की जा सकती है, जैसे- सरकार अकाल और सूखे की स्थिति में राहत कार्यों के द्वारा लोगों को रोजगार प्रदान कर सकती है।

प्रश्न-4. भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक वित्त की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

अथवा

सार्वजनिक वित्त की आर्थिक विकास में क्या भूमिका है? विस्तार से समझाइए।

उत्तर- भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक वित्त की भूमिका- राज्य की आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि के साथ-साथ लोक वित्त का आर्थिक क्षेत्र में महत्व बढ़ता जा रहा है। आज सरकार देश के आर्थिक जीवन को नियमित और नियंत्रित करती है तथा सरकार के इस कार्य में सार्वजनिक वित्त एक महत्वपूर्ण अस्त्र का कार्य करता है। फिण्डले शिराज के शब्दों में- "राज्य की बढ़ती हुई क्रियाओं के लिए आर्थिक वित्त की आवश्यकता पड़ती है और इस वित्त को विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं पर सतर्कता से व्यय करना पड़ता है। यह सब लोक वित्त के सिद्धान्तों की सहायता से ही किया जा सकता है।" भारत जैसे देश जहाँ संविधान में देश में समाजवादी अर्थव्यवस्था को स्थापित करने तथा कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने का संकल्प लिया गया है, सार्वजनिक वित्त का विशेष महत्व है। भारत सरकार द्वारा लगभग 30 लाख करोड़ रु. प्रतिवर्ष राजस्व के माध्यम से संग्रह किये जाते हैं और देश की रक्षा, प्रशासन एवं आर्थिक, सामाजिक विकास की योजनाओं पर व्यय किये जाते हैं। आर्थिक क्षेत्र में सार्वजनिक वित्त की भूमिका को निम्नवत् स्पष्ट किया जा सकता है-

(1) आर्थिक नियोजन में महत्व- सार्वजनिक वित्त देश के योजनाबद्ध आर्थिक विकास में बहुमूल्य सहायता प्रदान करता है। आर्थिक नियोजन की सफलता बहुत कुछ सार्वजनिक वित्त की उचित और प्रभावी व्यवस्था पर निर्भर करती है। आर्थिक नियोजन के लिए बड़ी मात्रा में संसाधन जुटाने पड़ते हैं और फिर प्राथमिकताओं के अनुरूप उनको विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित करना होता है। यह कार्य पूर्ण रूप से सार्वजनिक वित्त की कुशल प्रणाली पर ही निर्भर है। ध्यान रहे कि आर्थिक नियोजन केवल भौतिक नियोजन ही नहीं होता, यह वित्तीय नियोजन होता है और वित्तीय नियोजन की सफलता उचित राजकोषीय नीतियों पर निर्भर करती है। सरकारी योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक धनराशि करों द्वारा प्राप्त की जाती है और फिर यही धनराशि देश की परियोजनाओं को क्रियान्वित करने में लगाई जाती है। यदि आय और व्यय की व्यवस्था सही न हो तो हमारा आर्थिक नियोजन कभी सफल नहीं हो सकता।

(2) पूँजी-निर्माण में महत्व- प्रख्यात अर्थशास्त्री नर्क्से के अनुसार- "पूँजी-निर्माण की समस्या के समाधान में लोक वित्त का नया और महत्वपूर्ण स्थान है।" लोक वित्त की उचित और प्रभावी नीति द्वारा पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रभावी नीति में अनेक पहलू हो सकते हैं, जैसे- पूँजी-विनियोजन में एक निश्चित अवधि के लिए करों की छूट देना, दीर्घकालीन बचत तथा जीवन-बीमा प्रीमियम को आयकर से मुक्त करना, नई कम्पनी के अंशों के विक्रय को प्रोत्साहन देने के लिए एक निश्चित अवधि तक मिलने वाले पूँजी लाभ को

आयकर से मुक्त करना, आदि। भारत जैसे विकासशील देश में, जहाँ पूँजी-निर्माण का अभाव है, लोक वित्त का निश्चय ही विशेष महत्व है।

(3) धन-वितरण सम्बन्धी विषमताओं को कम करने में सहायक– लोक वित्त का धन-वितरण सम्बन्धी विषमताओ को दूर करने अथवा कम करने में भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। यह कार्य प्रायः धनी वर्ग की आय और सम्पत्ति पर भारी करारोपण करके और इस प्रकार प्राप्त आय को निर्धन वर्ग पर व्यय करके किया जाता है। ऐसा करने से आर्थिक असमानताओं का कम होना संभव है। सरकार निर्धनों को कई प्रकार की सुविधाएं प्रदान कर सकती है, जैसे- सस्ता अनाज, सस्ते मकान, निःशुल्क चिकित्सा, बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा आदि। केन्द्र सरकार द्वारा सब्सीडी के माध्यम से लगभग 5 लाख करोड़ रु. गरीबों के आर्थिक उत्थान के लिए खर्च किये जाते हैं, लोक वित्त की सहायता से सरकार धन को अमीरों से लेकर गरीबों को हरतान्तरित कर सकती है।

भारत में सरकार लोक वित्त की समुचित नीति द्वारा आर्थिक विषमताओं को करने के लिए बचत संभव नहीं हो पाती तथा आय का अधिकांश भाग उपभोग पर ही व्यय कर दिया जाता है। इन राष्ट्रों में माँग उपभोग एवं खाद्यान्न वस्तुओं तक ही सीमित रहती है जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि में लगा रहता है तथा उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, परिणामस्वरूप उत्पादकता व आय में निरन्तर कमी होती जाती है। इन राष्ट्रों में राजस्व नीति का उद्देश्य आय में वृद्धि करना होता है, जिससे विनियोग का स्तर भी बढ़ सके, उत्पादन के साथ-साथ राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि संभव हो सके। इस सम्बन्ध में राजस्व सम्बन्धी-नीतियाँ निम्न प्रकार से सहायता कर सकती हैं–

(i) ऐसी कर प्रणाली अपनायी जाये, जिसके द्वारा उपलब्ध न्यून साधनों को विनियोजित किया जा सके।

(ii) विभिन्न ढंगों द्वारा सरकार को व्यक्तिगत विनियोगों को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(iii) सार्वजनिक व्यय एवं सार्वजनिक ऋण को निर्माण कार्य में लगाना चाहिए।

(5) बेरोजगारी दूर करना– भारत जैसे अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में बेरोजगारी की समस्या विकराल रूप में पायी जाती है, जिसे राजस्व नीति की सहायता से उपभोग को नियंत्रित करके तथा विनियोग को प्रोत्साहित करके बचतों द्वारा बढ़ाया जा सकता है। अर्द्ध-विकसित देशों में बेकारी की समस्या का समाधान दीर्घकालीन विकास नीति का निर्माण करके हो सकता है। प्रशुल्क व राजकोषीय नीति द्वारा भी बेरोजगारी की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

(6) उत्पादन में वृद्धि– देश में राजस्व नीति का उद्देश्य उत्पादन बढ़ाने एवं नवीन कारखानों की स्थापना का होना चाहिए। इसके लिए आर्थिक साधन एक ही वर्ग पर केन्द्रित नहीं होने चाहिए तथा आर्थिक शक्तियों पर सरकार का स्वामित्व होना चाहिए। देश में राजस्व नीति की सहायता से समाज का अधिकतम कल्याण एवं आय व सम्पत्ति का समान वितरण करना है। देश में कर प्रणाली में इस प्रकार परिवर्तन लाने होंगे कि उसका भार उन्हीं व्यक्तियों पर पड़े, जो उसे सरलता से सहन कर सकते हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक व्यय का अधिकांश भाग उन व्यक्तियों पर व्यय किया जाना चाहिए, जो गरीब वर्ग के हैं, जिससे

अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त किया जा सके। इसी प्रकार करारोपण के बुरे प्रभाव सार्वजनिक व्यय के अच्छे प्रभावों से दूर किये जा सकते हैं।

(7) मुद्रा स्फीति के प्रभाव को रोकना– देश के विकसित साधनों का विदोहन करने हेतु सरकार घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लेती है, जिससे मुद्रा स्फीति का भय बना रहता है। घाटे की वित्त व्यवस्था से मूल्य बढ़ जाते हैं और मुद्रा स्फीतिजनक परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। अर्द्ध-विकसित देशों में प्रशुल्क नीति का प्रयोग मुद्रा प्रसार के प्रभावों को रोकने में प्रभावशील नहीं होता, परन्तु फिर भी प्रशुल्क साधन का प्रयोग करके इन प्रभावों को रोका जा सकता है।

(8) साधनों का अनुकूलतम उपयोग– आर्थिक विकास के लिए देश में उपलब्ध प्राकृतिक एवं मानवीय साधनों का पूर्ण एवं अनुकूलतम उपयोग परमावश्यक होता है। इस कार्य में लोक वित्त की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सरकार अपनी बजट-नीति द्वारा उपभोग, उत्पादन और वितरण को इस प्रकार नियमित एवं नियंत्रित कर सकती है कि देश के प्राकृतिक एवं मानवीय साधनों का उचित एवं पूर्ण विदोहन हो सके।

(9) उत्पादन एवं उपभोग करने में महत्व– प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियों का मत था कि राजस्व के अन्तर्गत केवल उन्हीं समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जो सरकारी व्यय और आय के फलस्वरूप पैदा होती है। लेकिन अब इस विचार में परिवर्तन हो रहा है। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि राजस्व की क्रियाओं का आर्थिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, कर प्रणाली और सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है कि इससे उत्पादन और उपभोग में वृद्धि हो, जैसे- विशिष्ट उत्पादनों पर करों में छूट दी जा सकती है, आवश्यक उपभोग की वस्तुओं से करों को हटाया जा सकता है और हानिकारक वस्तुओं पर करों की दर बढ़ाकर उनके उपभोग को रोका जा सकता है।

(10) सामाजिक न्याय की स्थापना– राजस्व की क्रियाओं से देश में आय और सम्पत्ति के वितरण में समानता लाई जा सकती है, क्योंकि इन क्रियाओं से आय अथवा क्रयशक्ति का हस्तान्तरण एक वर्ग से दूसरे वर्ग में होता है। जैसे- करदाता सरकार को कर देता है और यही कर से प्राप्त आय सरकार, सार्वजनिक व्यय के माध्यम से दूसरे लोगों पर व्यय कर देती है। धनी व्यक्तियों पर अधिक कर लगाए जाते हैं और सरकार अपेक्षाकृत निर्धन व्यक्तियों पर व्यय करती है तो इससे आय के वितरण में समानता आती है और इससे सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकती हैं, क्योंकि धन का पुनर्वितरण निर्धनों के पक्ष में होता है।

इस प्रकार भारत जैसे विकासशील देश के लिए सार्वजनिक वित्त (राजस्व) की बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका/योगदान है।

प्रश्न–5. निजी वस्तुएँ तथा सार्वजनिक वस्तुओं की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

निजी एवं सार्वजनिक वस्तुओं से क्या आशय है? इनकी विशेषताएँ लिखिए।

उत्तर– सर्वप्रथम इस अवधारणा का प्रतिपादन जर्मन लेखक डाइटजेल, शैल्फ एवं वैगनर ने किया था।

(1) सार्वजनिक वस्तुएँ– सार्वजनिक वस्तुएँ वे होती हैं जिनके उत्पादन से बाह्य लाभ का सृजन होता है तथा ऐसे लाभ का उपयोग अनेक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। यदि इन

वस्तुओं का उत्पादन एक व्यक्ति द्वारा किया जाये, तो इसके लाभ अनेक लोगों में बिखर जायेंगे। यह बिखराव प्रभाव ऐसा होता है कि इसके उत्पादनकर्ताओं के द्वारा बाह्य लाभ प्रदान करने के बदले में क्षतिपूर्ति के विचार से ऐसे (बाह्य) लाभ पर सम्पत्ति का अधिकार स्थापित नहीं किया जा सकता है। ऐसे लाभ का विभाजन भी संभव नहीं है। अतः इनके लिए कीमत नहीं ली जा सकती है। परिणाम यह होता है कि उन व्यक्तियों को भी इन वस्तुओं के उपभोग से वंचित नहीं किया जा सकता जो कीमत का भुगतान नहीं करते हैं।

सर्वप्रथम 1890 में मैजोला ने सार्वजनिक वस्तुओं की आधुनिक परिभाषा दी। इन्होंने बताया कि इन वस्तुओं को निजी वस्तुओं से पृथक करने वाली विशेषता उनकी अविभाज्यता है। सार्वजनिक वस्तुओं के उपभोग का विभाजन नहीं हो सकता, सभी उपभोक्ताओं द्वारा इनका उपभोग समान मात्रा में होता है। क्योंकि उपभोक्ताओं की आय तथा रूचि में अन्तर होते हैं, अतः सार्वजनिक वस्तुओं की अविभाज्यता वह तकनीकी कारण पेश करती है जिससे सभी उपभोक्ताओं से समान कीमत नहीं ली जा सकती है। यदि सभी उपभोक्ताओं से एक ही कीमत ली जाए तो कुछ उपभोक्ताओं हेतु यह कीमत इन वस्तुओं से प्राप्त सीमांत उपयोगिता से अधिक होगी एवं कुछ के लिए कम।

सार्वजनिक वस्तु की विशेषताएँ– सार्वजनिक वस्तु की प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत हैं–

(i) इसमें लागत तथा लाभ के सम्बन्ध में केवल बाह्यताएँ ही रहती हैं।
(ii) उपभोग में प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती है।
(iii) सार्वजनिक वस्तुओं में भुगतान एवं लाभ साथ-साथ नहीं मिलते हैं।
(iv) भुगतान करने वाला एवं लाभ पाने वाला अभिन्न नहीं होता।
(v) सार्वजनिक वस्तुओं का लाभ भी अस्पष्ट होता है।
(vi) सार्वजनिक वस्तुओं का सन्तुलन की स्थिति में जितना उत्पादन होता है उतनी ही मात्रा में सभी उपभोक्ता मिलकर एवं अलग-अलग उपभोग करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सार्वजनिक वस्तुएँ वे होती हैं जिनका प्रावधान बाजार व्यवस्था द्वारा संभव नहीं है, क्योंकि वर्जन का सिद्धान्त लागू नहीं होने से उपभोक्ता उनके लिए अपने अधिमान को प्रकट नहीं करते। इनके उपभोग में प्रतिद्वन्द्विता भी नहीं रहती है।

(2) निजी वस्तुएँ– निजी वस्तुएँ वे होती हैं जिनका उत्पादन बाजार सिद्धान्त एवं आर्थिक निपुणता के अनुसार होता है। बाजार अर्थव्यवस्था निम्न दो सिद्धान्तों पर आधारित है–

(i) वर्जन का सिद्धान्त, (ii) प्रकट अधिमान।

वर्जन के सिद्धान्त के अनुसार, केवल वे ही किसी वस्तु का उपभोग कर सकते हैं जो इसके लिए बाजार कीमत का भुगतान करते हैं। उदाहरणार्थ 'अ' किसी वस्तु 'एक्स' का उपभोग करता है, क्योंकि उसने इसे प्राप्त करने के लिए कीमत चुकायी है तथा 'ब' उसके उपभोग से वंचित रह जाता है क्योंकि उसने कीमत का भुगतान नहीं किया। वर्जन हेतु यह आवश्यक है कि लोगों को सम्पत्ति पर कानूनी अधिकार प्राप्त हो।

वर्जन के सिद्धान्त के अन्तर्गत बाजार नीलामी व्यवसाय की भाँति कार्य करता है। उपभोक्ता वस्तु के लिए बोली लगाता है और इस प्रक्रिया में अपने अधिमान को प्रकट करता है। इससे उत्पादनकर्ता को संकेत मिलता है और वह उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन्हें

उपभोक्ता चाहते हैं। स्पष्ट है कि उपभोक्ता द्वारा दी गयी जानकारी के आधार पर ही बाजार यंत्र क्रिया करता है।

उक्त दो सिद्धान्तों के आधार पर क्रिया करते हुए बाजार द्वारा निजी वस्तुओं का निपुण प्रावधान होता है क्योंकि इन वस्तुओं के लाभ उन्हीं उपभोक्ताओं को प्राप्त होते हैं जो इनके लिए कीमत का भुगतान करते हैं। अन्य शब्दों में, निजी वस्तुएँ वे होती हैं जिनके लाभ आन्तरिक होते हैं एवं उपभोग में प्रतिद्वन्द्विता रहती है। अधिकांश वस्तुओं की व्यवस्था बाजार यंत्र के द्वारा ही संभव है।

निजी वस्तुओं की विशेषताएँ– निजी वस्तुओं की विशेषताएँ निम्नवत हैं–

(i) निजी वस्तुओं के उत्पादनकर्ता निजी लागत तथा लाभ के लिए कार्य करते हैं।
(ii) उपभोग में प्रतिद्वन्द्विता होती है।
(iii) निजी वस्तुओं का लाभ स्पष्ट होता है।
(iv) निजी वस्तुओं का भुगतान तथा लाभ साथ-साथ प्राप्त किया जाता है।
(v) निजी वस्तुओं का भुगतान करने वाला एवं लाभ पाने वाला अभिन्न (एक ही व्यक्ति) होता है।

प्रश्न–6. सार्वजनिक वित्त और निजी वित्त में क्या समानतायें और भिन्नताएँ हैं? पूर्ण रूप से समझाइये।

अथवा

लोक वित्त तथा निजी वित्त में क्या अन्तर हैं? वर्णन कीजिये।

अथवा

'लोक वित्त न केवल मात्रा में, वरन् स्वरूप में भी निजी वित्त से भिन्न है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

उत्तर– लोक तथा निजी वित्त में समानताएँ– लोक-वित्त तथा निजी वित्त-व्यवस्था में निम्न आधारों पर समानताएँ स्थापित की जाती हैं–

(1) मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि– लोक एवं निजी, दोनों वित्त-व्यवस्थाओं का सामान्य उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना होता है। यह केवल अन्तर है कि निजी वित्त का सम्बन्ध व्यक्तिगत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से होता है, जबकि लोक-वित्त का सम्बन्ध सामाजिक अथवा समूह की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से होता है।

(2) अधिकतम सन्तुष्टि का प्रयास– दोनों वित्त-व्यवस्थाओं में अधिकतम सन्तुष्टि के उद्देश्य की प्राप्ति पर बल दिया जाता है। जहाँ एक ओर व्यक्ति सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के आधार पर अथवा निजी आर्थिक इकाई सम-सीमान्त उत्पत्ति नियम के आधार पर अधिकतम सन्तुष्टि या अधिकतम उत्पादन करने का प्रयास करती है, वहाँ दूसरी ओर सरकार अधिकतम सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त के आधार पर अपनी वित्त-व्यवस्था का संचालन करती है।

(3) राष्ट्रीय उत्पादन या राष्ट्रीय आय में योगदान– सरकार और निजी क्षेत्र दोनों की वित्तीय क्रियाओं से बचत, पूँजी संचय, विनियोग इत्यादि क्रियायें उत्पन्न होती हैं, जिनसे देश में उत्पादन, विनियोग और उपभोग की क्रियायें प्रोत्साहित होती हैं और राष्ट्रीय उत्पादन में योगदान मिलता है।

(4) वित्त–व्यवस्था के भागों की समानता– वित्त–व्यवस्था के भागों की दृष्टि से भी निजी और लोक–वित्त में काफी समानता पायी जाती है। दोनों वित्त–व्यवस्था में आय, व्यय, ऋण, बचत और वित्तीय प्रशासन जैसे भाग होते हैं। जहाँ सरकार देश में आर्थिक स्थायित्व की समस्या पर ध्यान देती है, वहीं निजी आर्थिक इकाई अपने स्थायित्व की समस्या पर ध्यान देती है।

लोक तथा निजी वित्त में असमानताएँ या अन्तर– लोक–वित्त तथा निजी–वित्त में असमानताओं या अन्तर को निम्न आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) वित्त व्यवस्था के सिद्धान्त या उद्देश्य– लोक–वित्त और निजी–वित्त में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि निजी वित्त में 'विपणन के सिद्धान्त' अथवा 'आर्थिक विवेक का सिद्धान्त' को अपनाया जाता है, जबकि लोक–वित्त में 'बजट सिद्धान्त' को अपनाया जाता है। विपणन के सिद्धान्त से आशय है– लाभ का उद्देश्य और आर्थिक विवेक के सिद्धान्त का अर्थ है– ऐसे कार्यों पर व्यय करना जो आर्थिक रूप से लाभदायक हों। इसके विपरीत बजट सिद्धान्त का अर्थ है सामान्य उद्देश्यों के लिए कार्य करना।

(2) आय तथा व्यय में समायोजन– यद्यपि निजी आर्थिक इकाई और सरकार दोनों को अपनी आयों और व्ययों के बीच समायोजन करना पड़ता है, लेकिन समायोजन के आधार में अन्तर रहता है। एक व्यक्ति या निजी आर्थिक इकाई अपनी आय के अनुसार व्यय करती है, जबकि सरकार अपने व्ययों को देखकर आय की व्यवस्था करती है।

इस अन्तर का आधार यह है कि निजी वित्त–व्यवस्था का संचालन 'उतने पैर पसारिये जितनी चादर होय' के सिद्धान्त के आधार पर होता है। इसके विपरीत राजस्व में सरकार पहले व्ययों का अनुमान करती है और फिर उनके अनुसार आय की योजना तैयार करती है।

(3) मुद्रा या क्रयशक्ति सृजन की शक्ति– लोक एवं निजी–वित्त में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि निजी आर्थिक इकाई को मुद्रा के सृजन का अधिकार नहीं होता, जबकि सरकारी वित्त–व्यवस्था में मुद्र–सृजन एक महत्वपूर्ण साधन होता है। स्वर्ण या रजतमान के समय में सरकार के हाथ में मुद्रा–सृजन से आय का कोई वास्तविक साधन नहीं था, लेकिन पत्र–मुद्रा के अन्तर्गत सरकार के हाथ में उसकी वित्त–व्यवस्था की दृष्टि से मुद्रा–सृजन की महत्वपूर्ण शक्ति रहती है।

(4) आय–व्यय में असन्तुलन की अवधि और व्यावहरिकता– सामान्यतः निजी आर्थिक इकाई अपने साधनों के अन्तर्गत अपना कार्य करती है। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर इसके द्वारा कमी के बजट अर्थात् व्यय का आय से आधिक्य होने की व्यवस्था को अपनाया जाता है, लेकिन यह व्यवस्था एक सीमा तक और कुछ समय तक के लिये ही अपनायी जा सकती है। इसके विपरीत सरकार एक लम्बे समय तक घाटे के बजट की व्यवस्था अपना सकती है।

(5) वित्त–व्यवस्था के दृष्टिकोण में अवधि– सामान्यतः निजी वित्त–व्यवस्था में अल्पकालिक और लोक–वित्त व्यवस्था में दीर्घकालिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है। निजी आर्थिक इकाई अपने धन का व्यय या विनियोजन ऐसे कार्यों में करती है, जिनके परिणाम तुरन्त या शीघ्रता से प्राप्त हो सकें। इसके विपरीत सरकारी वित्त–व्यवस्था में दीर्घकालिक दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखा जाता है।

(6) बजट की प्रकृति एवं अवधि– प्रकृति की दृष्टि से निजी वित्त–व्यवस्था में बचत का बजट अच्छा माना जाता है, लेकिन सरकारी वित्त–व्यवस्था में इस बजट को (मुद्रा–प्रसार जैसी परिस्थितियों को छोड़कर) अच्छा नहीं माना जाता है। सरकारी बजट में बचत के दो आशय निकलते हैं– या तो सरकार ने कर अधिक लगा रखे हैं या जनता पर व्यय कम किया जाता है।

इस अन्तर के सम्बन्ध में यह कहा जा सकती है कि व्यवहार में निजी वित्त और लोक वित्त दोनों में परिस्थितियों या आवश्यकताओं के अनुसार बचत के बजट, घाटे के बजट और सन्तुलित बजट बनाये जा सकते हैं।

(7) अनिवार्यता का तत्व– लोक और निजी वित्त में एक महत्वपूर्ण अन्तर अनिवार्यता के तत्व का है। ''राज्य आय प्राप्त करने के लिये बल का प्रयोग कर सकता है, पर निजी इकाई नहीं।'' इसका अर्थ यह है सरकार द्वारा लगाये करों में अनिवार्यता की प्रवृत्ति होती है और इसके अतिरिक्त ऋणों को भी सरकार अनिवार्य रूप से प्राप्त कर सकती है। यदि आवश्यकता हो, तो सरकार सम्पत्तियों को जब्त भी कर सकती है, लेकिन निजी वित्त–व्यवस्था में इस प्रकार की अनिवार्यता का तत्व नहीं होता।

(8) वित्त–व्यवस्था की गोपनीयता– वित्त–व्यवस्था की गोपनीयता के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि निजी वित्त में गोपनीयता रहती है, इसके विपरीत लोक–वित्त में व्ययों के बारे में खूब प्रचार किया जाता है, ऋण प्राप्त करने के लिये विज्ञापन दिये जाते हैं और आय के बारे में बजट के माध्यम से विस्तृत जानकारी दी जाती है।

(9) लाभ–हानि की क्रियाओं के विस्तार एवं संकुचन पर प्रभाव– लोक–वित्त एवं निजी वित्त में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि निजी आर्थिक इकाई को लाभ होने पर उसकी क्रियाओं का विस्तार होता है और हानि होने पर उसकी क्रियाओं का संकुचन होने लगता है। हानि अधिक होने पर उसकी क्रियायें बन्द हो सकती हैं। इसके विपरीत लोक–वित्त में लाभ–हानि का सरकार के कार्यों पर बहुत सीमित प्रभाव पड़ता है।

उपर्युक्त अन्तरों के अलावा आय–व्यय की लोच, आय के साधनों की प्रचुरता, राजकीय व्ययों में सुरक्षा मद पर अधिक व्यय इत्यादि आधारों पर भी लोक–वित्त और निजी वित्त में अन्तर किया जाता रहा है, लेकिन यह अन्तर लोक तथा निजी वित्त का नहीं, बल्कि इन दोनों के क्षेत्रों में अन्तर होने के कारण है।

(10) ऋण की प्रकृति– निजी एवं लोक दोनों प्रकार की वित्त–व्यवस्थाओं में आवश्यकतानुसार ऋण लिए जाते हैं, लेकिन इनमें कुछ अन्तर रहते हैं–

(i) सरकार आन्तरिक एवं बाहरी दोनों प्रकार के ऋण प्राप्त कर सकती है, जबकि व्यक्ति के ऋण बाहरी ही होते हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि निजी वित्त में भी फर्म होने पर अपने साझेदारों से और कम्पनी होने पर अपने अंशधारियों से ऋण लिये जा सकते हैं।

(ii) एक निजी आर्थिक इकाई न 'भुगतान किये जाने वाले ऋणों' को प्राप्त नहीं कर सकती, जबकि सरकार कुछ परिस्थितियों में ऐसा कर सकती है।

(iii) सरकारी वित्त में अनिवार्य ऋण भी प्राप्त किये जा सकते हैं, जबकि निजी वित्त मे ऐसा नहीं होता। अनिवार्य जमा योजना अनिवार्य ऋण का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।

(iv) सामान्यतः निजी वित्त की तुलना में सरकारी वित्त–व्यवस्था में कम ब्याज पर और अधिक मात्रा में ऋण प्राप्त किये जा सकते हैं।

निष्कर्ष– इस प्रकार लोक वित्त और निजी वित्त का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि इनके बीच कुछ समानतायें और कुछ असमानतायें दोनों ही हैं। असमानताओं में कुछ केवल मात्रा की हैं और कुछ मूलभूत हैं। विशेष रूप से दोनों वित्त व्यवस्थाओं का उद्देश्य, सरकार की मुद्रा–सृजन शक्ति, कर लगाने का आधिकार इत्यादि के आधार पर अन्तर ध्यान में रखने योग्य है। यह अन्तर स्पष्ट करते हैं कि निजी वित्त–व्यवस्था के सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से लोक–वित्त व्यवस्था में नहीं अपनाया जा सकता।

प्रश्न–7. अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

अथवा

'अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त स्पष्ट, सरल एवं शोषपूर्ण है, पर इसको व्यवहार में प्रयोग करना कठिन है।' स्पष्ट कीजिये।

अथवा

'राजस्व की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जिसके अन्तर्गत राज्य अपने कार्यों द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त कर सकता है।' डाल्टन के इस कथन की व्याख्या कीजिये और आधुनिक राज्य में राजस्व के योगदान का विवेचन कीजिये।

अथवा

'एक व्यक्ति अपने व्यय का आय के अनुसार समायोजन करता है, जबकि राज्य व्यय के अनुसार आय का प्रबन्ध करता है।' स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त राजस्व का एक मूल सिद्धान्त रहा है। यह सिद्धान्त राजस्व में 'कल्याण' दृष्टिकोण की ओर संकेत करता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रो. डाल्टन तथा पीगू रहे हैं। प्रो. पीगू ने इसे **'अधिकतम सामूहिक कल्याण का सिद्धान्त'**, प्रो. रिचार्ड मुसग्रेव ने इसे 'बजट निर्धारण का **अधिकतम कल्याण सिद्धान्त'** भी कहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार की वित्तीय क्रियाओं का उद्देश्य सामाजिक लाभ को अधिकतम करना होना चाहिए। अर्थात् सरकार को अपनी आय–व्यय क्रियायें इस प्रकार संचालित करना चाहिए ताकि समाज के अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिकतम लाभ हो सके। जबकि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि– ''वित्त की सब योजनाओं में सर्वोत्तम योजना है कम खर्च करना और सभी करों में सर्वोत्तम कर वह है जो मात्रा में सबसे कम हो।'' इस धारणा का कारण यह था कि यह अर्थशास्त्री सरकारी व्यय को अनुत्पादक और निजी व्यय को उत्पादक मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक कर एक आवश्यक बुराई है। इसके विपरीत प्रो. डाल्टन ने मत दिया कि नशीले पदार्थों पर लगाया गया कर उपभोग को घटाकर कल्याण में वृद्धि करता है। सरकार जनता पर कर लगाकर आय प्राप्त करती है और फिर व्यय द्वारा इस धनराशि को पुनः जनता को लौटा देती है। इन सरकारी क्रियाओं के फलस्वरूप समाज को क्रमशः हानि व लाभ होते हैं। इस सामाजिक हानि का तात्पर्य समाज के नागरिकों

को होने वाली कल्याण या उपयोगिता की हानि या अनुपयोगिता से है; इसी प्रकार सामाजिक लाभ का तात्पर्य नागरिकों को मिलने वाले आर्थिक कल्याण व सन्तुष्टि अथवा उपयोगिता से है। सरकार की आय सम्बन्धी क्रियाओं के फलस्वरूप होने वाली हानि या अनुपयोगिता के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं–

(i) कर देने से कर की धनराशि बराबर 'उपलब्ध आय' का कम हो जाना। इससे कम वस्तुओं या सेवाओं का उपभोग हो पाता है।

(ii) कम वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग के फलस्वरूप नागरिकों की कार्य–कुशलता तथा देश की उत्पादकता भी गिर सकती है।

(iii) कर देने के फलस्वरूप नागरिकों की बचतें गिर सकती हैं जिसका पूँजी निर्माण तथा उत्पादन शक्ति पर बुरा असर हो सकता है। इसी प्रकार सार्वजनिक व्यय के फलस्वरूप नागरिकों को निम्न प्रकार के लाभ होते हैं। इससे समाज की उपयोगिता में वृद्धि होती है–

(अ) नागरिकों को सरकार द्वारा प्रदत्त निःशुल्क सुविधाओं और प्रत्यक्ष सेवाओं से लाभ प्राप्त होता है, जैसे– शिक्षा, चिकित्सा आदि पर किए गये व्यय या सामाजिक सुरक्षा से प्राप्त लाभ।

(ब) सार्वजनिक व्यय से नागरिकों की कार्य क्षमता तथा उत्पादकता बढ़ती है, जैसे– यातायात तथा संचार की सुविधाओं पर व्यय, बिजली, पानी की व्यवस्था, सार्वजनिक आवासों के निर्माण आदि पर व्यय।

(स) सार्वजनिक व्यय द्वारा वितरण की समानता लाकर आत्म–संतोष की प्राप्ति, नागरिकों के कल्याण में वृद्धि आदि।

सीमान्त हानि तथा सीमान्त लाभ या अनुपयोगिता तथा उपयोगिता–

(i) सार्वजनिक व्यय की हर अगली इकाई से नागरिकों का प्रत्यक्ष व परोक्ष द्राविक लाभ या आय बढ़ती है इसलिए आय की सीमान्त उपयोगिता घटती चली जाती है।

(ii) सार्वजनिक आय की हर अगली इकाई से होने वाली हानि या सीमान्त हानि या अनुपयोगिता बढ़ती जाती है। कारण स्पष्ट है कि करारोपण की हर अगली इकाई की वृद्धि व्यक्तियों के धन तथा क्रय–शक्ति को कम करती है, जिससे शेष धन या आय की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है।

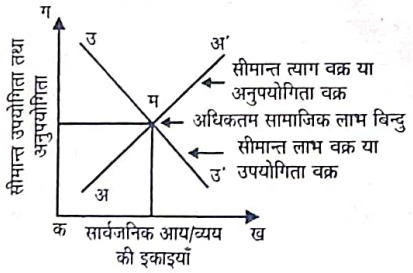
सिद्धान्त की व्याख्या– इस सिद्धान्त की व्याख्या डा. डाल्टन ने इस प्रकार की है– ''लोक वित्त के मूल में एक बुनियादी सिद्धान्त होना चाहिए। इसे हम अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त कह सकते हैं। लोक वित्त की समस्त क्रियायें वास्तव में समाज के एक वर्ग से दूसरे वर्ग में क्रय शक्ति का हस्तान्तरण है। इस क्रय शक्ति के हस्तान्तरण का मुख्य उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ को प्राप्त करना है।'' डा. डाल्टन ने आगे लिखा है कि, ''अधिकतम सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त के अनुसार सरकार को आय–व्यय उस सीमा तक करना चाहिए जहाँ पर सार्वजनिक आय से होने वाली सीमान्त अनुपयोगिता सार्वजनिक व्यय से होने वाली सीमान्त उपयोगिता के समान हो जावे।'' इस सीमा की विशेषता यह होगी कि इसके पूर्व सार्वजनिक आय की प्रत्येक इकाई की अनुपयोगिता सार्वजनिक व्यय की प्रत्येक इकाई की

उपयोगिता से कम होगी। फलस्वरूप समाज के कुल कल्याण में सार्वजनिक आय–व्यय द्वारा शुद्ध वृद्धि होगी। किन्तु इस सीमा के पश्चात् सार्वजनिक आय से होने वाली अनुपयोगिता सार्वजनिक व्यय से होने वाली उपयोगिता की अपेक्षा अधिक होगी। अतः समाज के कल्याण में कमी होने लगेगी। अतः अधिकतम सामाजिक कल्याण उसी समय सम्भव है जबकि सार्वजनिक आय से होने वाली सीमान्त अनुपयोगिता सार्वजनिक व्यय से होने वाली सीमान्त उपयोगिता से प्रति सन्तुलित हो जावे।

अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त की तालिका

इकाई कर/व्यय	कर से उत्पन्न सीमान्त त्याग या हानि या अनुपयोगिता	व्यय से उत्पन्न सीमान्त लाभ या उपयोगिता
1	10	70
2	20	60
3	30	50
4	40	40
5	50	30
6	60	20
7	70	10

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि जैसे–जैसे कर की दरें बढ़ेंगी या नया कर लगेगा, वैसे–वैसे समाज पर भार बढ़ेगा और सीमान्त त्याग क्रमशः बढ़ता जावेगा किन्तु इसी क्रम में जैसे–जैसे सार्वजनिक व्यय की मात्रा बढ़ेगी लोगों का सीमान्त लाभ या उपयोगिता कम होती चली जावेगी। ऐसी स्थिति में केवल आय–व्यय या कर तथा व्यय की चौथी इकाई ऐसी स्थिति है जब सीमान्त त्याग तथा लाभ बराबर है। यही अधिकतम सामाजिक कल्याण का बिन्दु है। इसे इस रेखाचित्र द्वारा भी खींचा और दिखलाया जा सकता है–



इस रेखाचित्र में क ख रेखा पर सार्वजनिक आय तथा व्यय की इकाईयाँ तथा क ग रेखा पर सीमान्त त्याग तथा लाभ दिखलाया गया है। वक्र अ अ1 सीमान्त त्याग का वक्र है जो हर अगली इकाई पर ऊपर उठता दिखलाया गया है। इसी प्रकार उ उ1 वक्र सीमान्त लाभ हर अगली इकाई के साथ नीचे की ओर झुक रहा है केवल म बिन्दु पर ही दोनों वक्र आपस में

एक–दूसरे को स्पर्श कर यह दर्शाते हैं कि 'म' बिन्दु पर आय/व्यय की इकाई अधिकतम सामाजिक लाभ दे सकती है। यही लोक वित्त या सरकारी आय–व्यय का आदर्श है जिस पर सरकार को अपनी क्रियायें नियंत्रित करना चाहिए। अधिकतम सामाजिक कल्याण निम्न तथ्यों पर प्रकाश डालता है–

(i) राजस्व का प्रमुख आधार जनकल्याण है।
(ii) सार्वजनिक आय–व्यय की सीमाओं पर प्रकाश डालता है।
(iii) जिस बिन्दु पर सार्वजनिक आय की इकाई से उत्पन्न त्याग तथा सार्वजनिक व्यय से उत्पन्न लाभ बराबर होगा, वहीं पर अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति हो सकेगी।

सार्वजनिक आय तथा व्यय का आवंटन– यह सिद्धान्त केवल सार्वजनिक आय तथा व्यय की सीमाओं को ही निश्चित नहीं करता, अपितु यह भी व्यक्त करता है कि–

(i) कर को किन–किन स्त्रोतों में विभाजित किया जावे, ताकि सभी नागरिकों को समान रूप से त्याग करना पड़े अर्थात् करों के कारण उत्पन्न सीमान्त त्याग विभिन्न वर्गों तथा व्यक्तियों का एक समान हो जावे या यहाँ समान–सीमान्त त्याग की धारणा का पालन हो सके।
(ii) सार्वजनिक व्यय की विभिन्न इकाइयों को विभिन्न योजनाओं पर इस प्रकार बाँटा जावे ताकि सभी नागरिकों या वर्गों को समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके।

सिद्धान्त की आलोचना– इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में आक्षेप करते हुए सिद्धान्त की अनेक त्रुटियाँ निकाली गई हैं, जिसके कारण सिद्धान्त के व्यावहारिक प्रयोग में कठिनाई आती है–

(1) **सार्वजनिक आय तथा व्यय के द्वारा सीमान्त त्याग तथा सीमान्त लाभ मापना कठिन है–** जब एक व्यक्ति को प्राप्त सीमान्त उपयोगिता तथा अनुपयोगिता का मापना ही कठिन है, तब सामूहिक उपयोगिता तथा त्याग का मापना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। यह उपयोगिता या त्याग तो सरकार के लिए है जिसे मापना और अधिक कठिन कार्य है।

(2) **राज्य वर्तमान से अधिक भविष्य का संरक्षक है–** सार्वजनिक आय तथा व्यय केवल वर्तमान के लिए नहीं किए जाते अपितु भविष्य में उनका क्या प्रभाव होगा, इस दृष्टि से किए जाते हैं अतः भविष्य में प्राप्त उपयोगिता का निकालना और भी कठिन कार्य है। इस कठिनाई के कारण सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त अनुपयोगिता का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव नहीं हो पाता।

(3) युद्ध–व्यय की मात्रा का निर्धारण शत्रु की मारक–शक्ति पर निर्भर रहता है, उसे लाभ की दृष्टि से निर्धारित नहीं किया जाता है।

(4) सरकार द्वारा करारोपण तथा व्यय का आधार हमेशा ही आर्थिक नहीं होता। विशेषकर प्रजातंत्रीय देशों में करों की मात्रा तथा सार्वजनिक व्यय के आधार भी राजनीति से प्रेरित हुआ करते हैं।

सामाजिक लाभ की आर्थिक कसौटी– उपरोक्त व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए डा. डाल्टन ने कुछ आर्थिक आधारों और कसौटियों का संकेत दिया है ताकि इस सिद्धान्त के अनुरूप आय–व्यय किए जा सकें–

(1) सुरक्षा तथा शान्ति– किसी सरकार का आधारभूत कर्त्तव्य देश में शान्ति की व्यवस्था तथा वाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना है अतः इस कार्य के लिए अपेक्षित आय–व्यय सामाजिक कल्याण को बढ़ाते हैं।

(2) आर्थिक कल्याण में वृद्धि– सरकार के 2 कार्यों द्वारा इस कार्य में वृद्धि होती है– (i) उत्पादन शक्ति में वृद्धि, (ii) उत्पादित धन के वितरण में सुधार। इसके लिए धनिकों पर कर लगाये जा सकते हैं।

(3) भावी पीढ़ी पर प्रभाव– सरकार केवल वर्तमान के लिए ही नहीं अपितु भावी पीढ़ी के हितों की भी संरक्षक है अतः इसे ध्यान में रखना चाहिए।

(4) स्थायित्व की आवश्यकता– अधिकतम सामाजिक लाभ तभी सम्भव है जबकि देश के आर्थिक जीवन तथा रोजगार के स्तर में स्थायित्व पैदा हो सके। इससे अर्थिक संकटों से छुटकारा मिलता है।

श्रीमती हिक्स की कसौटी– इस सम्बन्ध में श्रीमती हिक्स ने वतलाया कि राजस्व की किसी भी नीति का निर्धारण 2 आधारों पर किया जाना चाहिए–

(i) उत्पादन अनुकूलतम, (ii) उपयोगिता अनुकूलतम।

(i) उत्पादन अनुकूलतम– राजस्व का अन्तिम लक्ष्य सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना है। अतः अधिकतम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए अधिकतम उत्पादन होना चाहिए किन्तु साधनों की स्थिरता पर यह नहीं किया जा सकता। अतः साधनों का पुर्न आवंटन आवश्यक होगा। इसी के द्वारा उत्पादन–आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। उत्पादन को अधिकतम करने की शर्त यह है कि उत्पादित वस्तुओं के स्थिर रहने की दशा में, साधनों के वितरण में परिवर्तन किए विना या दूसरी वस्तुओं का उत्पादन कम किए विना, एक वस्तु के उत्पादन में वृद्धि करना असम्भव हो।

(ii) उपयोगिता अनुकूलतम– लोक वित्त का दूसरा आधार उपयोगिता–आदर्श प्राप्त करना है। वस्तुओं की ऐसी वितरण व्यवस्था जिससे अधिकतम सन्तुष्टि मिल सके। उपयोगिता उस समय अधिकतम होगी, जव एक व्यक्ति की सन्तुष्टि को विना दूसरे व्यक्ति की सन्तुष्टि कम किए वढ़ाना असम्भव हो जावे। यद्यपि श्रीमती हिक्स का विचार भी प्रो. डाल्टन के विचार के समान अधिक व्यावहारिक नहीं है।

प्रश्न–8. बाजार की विफलताएँ एवं शासन की आर्थिक भूमिका पर एक लेख लिखिए।

अथवा

बाजार यन्त्र की विफलता एवं शासन भूमिका की विवेचना कीजिए।

अथवा

आधुनिक राज्य के आर्थिक कार्यों की विवेचना कीजिए।

अथवा

आर्थिक विकास में राज्य के आर्थिक कार्य वताइए।

उत्तर– बाजार की विफलताएँ एवं राज्य की आर्थिक भूमिका– आदर्श बाजार अर्थव्यवस्था वह है जिसमें सभी वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय मुद्रा के लिए बाजार कीमत पर होता है। बाजार अर्थव्यवस्था वह है जहाँ किन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किया जाएगा? उनका उत्पादन किस प्रकार होगा और उनका उत्पादन किनके लिए होगा? अर्थात् क्या, कैसे तथा किनके लिए जैसे प्रश्नों का समाधान मुख्यतः बाजार में पूर्ति तथा मांग के आधार पर होता है। इस प्रकार के आर्थिक संगठन में फर्म अधिकतम लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य प्रेरित होती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए फर्म उत्पादक साधनों की खरीद करती है और वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन कर वेचती है। व्यक्ति (या परिवार) उत्पादक साधनों की विक्री कर आय का उपार्जन करता है। इसी आय को लेकर वह वाजार जाता है और वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग को निर्धारित करता है। फर्म द्वारा की गई पूर्ति और पारिवारिक मांग वाजार कीमत और वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग को निर्धारित करता है। फर्म द्वारा की गई पूर्ति और पारिवारिक मांग वाजार कीमत तथा वस्तुओं की मात्रा को निर्धारित करती है।

ऐसी वाजार अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप के विना ही अर्थव्यवस्था में उपलब्ध आर्थिक संसाधनों से सर्वाधिक लाभ मिलता है। लेकिन वास्तविक विश्व में कोई भी अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप से आदर्श वाजार अर्थव्यवस्था जैसी नहीं होती है जो पूर्ति तथा मांग अर्थात् अदृश्य हाथ द्वारा निर्विघ्न संचालित होती है।

इस प्रकार की आदर्श अर्थव्यवस्था पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में सम्भव है। पूर्ण प्रतियोगिता एक आदर्श वाजार स्थिति है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक बाजार में अपूर्णताएँ पाई जाती हैं जिनके कारण वाजार व्यवस्था का संचालन असफल हो जाता है। इसके निम्न प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

(1) वाह्यताओं के कारण लागत या लाभ की अनैच्छिक उपस्थिति।
(2) वाजार में एकाधिकार या अल्पाधिकार का पाया जाना।
(3) वीमा तथा भविष्य–सम्वन्धी वाजार कभी भी पूर्ण नहीं हो सकते।
(4) पैमाना का वृद्धिमान प्रतिफल।
(5) व्यक्ति या उद्यमी द्वारा समायोजन की प्रक्रिया का धीरे–धीरे सम्पन्न होना।
(6) सूचना का धीमी गति से प्रसार या विपणन संस्थाओं में लचीलेपन का अभाव– इनके वाजार के समायोजन में देरी।
(7) व्यक्तियों द्वारा किसी भी चीज को अधिकतम करने का प्रयास न करना।
(8) व्यक्तियों या उद्यमियों को उत्पाद, कीमतों, उत्पाद सम्भावनाओं, आदि के विषय में गलत सूचना की प्राप्ति।
(9) वाजार की अपूर्णताओं के कारण कार्यकुशलता का अभाव ।

उपर्युक्त अपूर्णताओं के कारण अर्थव्यवस्था में सरकार की भूमिका की आवश्यकता होती है।

आधुनिक राज्य के आर्थिक कार्य– आधुनिक राज्य के सामान्य आर्थिक कार्यों को निम्नलिखित विवेचन से समझा जा सकता है–

(I) आर्थिक ढांचे की देखभाल– आज प्रत्येक राष्ट्र अपने यहाँ आर्थिक ढांचा या व्यवस्था का रूप एवं स्वभाव निश्चित करता है, उसका निर्माण करता है तथा उसकी देखभाल करता

है। प्रत्येक देश यह तय करता है कि उसके यहाँ अर्थव्यवस्था किस प्रकार की होगी? अर्थात् यह व्यवस्था पूंजीवादी होगी, समाजवादी होगी या मिश्रित अर्थव्यवस्था होगी। इसके साथ सरकार देश के आर्थिक संसाधनों की जानकारी करती है, उनके समंक एकत्र करती है और उनके उचित प्रयोग तथा देखभाल की व्यवस्था करती है। सरकार इस बात पर भी ध्यान देती है कि देश में जो आर्थिक ढांचा है वह निरन्तर सुदृढ़ होता रहे और देश में राजनीतिक, औद्योगिक या अन्य किन्हीं कारणों से इस ढांचे में खोखलापन न आये।

(II) नियमन एवं नियंत्रण– अब 'स्वतन्त्र व्यापार' अथवा 'अहस्तक्षेप नीति' का युग समाप्त हो गया है और नियंत्रण, नियमन तथा नियोजन का युग चल रहा है। इसीलिए यह कहा जाता है कि "राजकीय हस्तक्षेप आज के युग की व्यवस्था है और अहस्तक्षेप की नीति एक काल्पनिक विचार है।" सरकार द्वारा किये जाने वाले कुछ मुख्य नियमन एवं नियंत्रण निम्न प्रकार हैं–

(1) **उद्योगों की स्थापना तथा आकार पर नियंत्रण–** प्रायः प्रत्येक देश में राष्ट्र की परिस्थितियों और आवश्यकतानुसार उद्योगों की स्थापना एवं उनके आकार, पूंजी स्थानीयकरण इत्यादि के सम्बन्ध में नियमन और नियंत्रण किया जाता है। भारत में इस प्रकार का नियंत्रण औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951 के अन्तर्गत किया जाता है।

(2) **मूल्य नियंत्रण–** सरकार द्वारा उत्पादक और उपभोक्ताओं के हित में मूल्य नियंत्रण भी किया जाता है। इस सम्बन्ध में मूल्य समर्थन और मूल्य नियंत्रण दोनों ही प्रकार की नीतियाँ आवश्यकतानुसार अपनायी जाती हैं। भारत में अनेक कृषि-फसलों तथा औद्योगिक उत्पादनों के मूल्य को सरकार द्वारा नियमित और निर्धारित किया जाता है।

(3) **किस्म सम्बन्धी नियंत्रण–** उत्पादित वस्तुओं की किस्म सुधारने तथा विशिष्ट प्रकार के माल के उत्पादन को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से किस्म नियंत्रण किया जाता है।

(4) **वितरण नियंत्रण–** आवश्यकता से कम उत्पादन होने वाली वस्तुओं पर मूल्य के अतिरिक्त वितरण की मात्रा पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। भारत में लोहा एवं इस्पात तथा चीनी इत्यादि में इस प्रकार का नियंत्रण किया गया है। भारत में वितरण पर नियंत्रण स्थापित करने की दृष्टि से राजकीय व्यापार निगम, खाद्य निगम, भारतीय कपास निगम और भारतीय जूट निगम इत्यादि स्थापित किये गये हैं।

(5) **श्रम–सम्बन्धी नियंत्रण–** आज प्रत्येक देश में श्रमिक वर्ग अधिक संगठित होता जा रहा है और सरकार भी कल्याणकारी दृष्टिकोण को प्रधानता देती है। अतः श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक दिलाने, उनकी कल्याण–सुविधाओं में वृद्धि करने तथा औद्योगिक शान्ति बनाये रखने की दृष्टि से श्रम–सम्बन्धी नियंत्रण लगाये जाते हैं। भारत में इस दृष्टि से अनेक सन्नियमों का निर्माण किया गया है, जैसे- फैक्ट्री अधिनियम, औद्योगिक संघर्ष अधिनियम, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, बोनस अधिनियम इत्यादि।

(6) **कम्पनी प्रबन्ध पर नियंत्रण–** आज प्रत्येक देश में बड़े पैमाने के उत्पादन की दृष्टि से संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों की संख्या बढ़ रही है। इनकी प्रबन्ध की समुचित व्यवस्था तथा कम्पनियों से सम्बन्धित विभिन्न वर्गों के हितों को सुरक्षित रखने की दृष्टि से सरकार इनके संगठन एवं प्रबन्ध का नियमन करती है।

(7) **आयात एवं निर्यात पर नियंत्रण–** प्रारम्भ में स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की नीति अपनायी जाती थी, लेकिन आज प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों, योजनाओं तथा आवश्यकता के अनुरूप आयातों और निर्यातों पर नियंत्रण लगाता है।

(8) **एकाधिकार पर नियंत्रण–** वर्तमान समय में केवल समाजवादी देशों में ही नहीं, बल्कि पूंजीवादी और मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले देशों में भी व्यवसाय और उद्योगों में ऐसे एकाधिकारों को सरकार द्वारा नियंत्रित किया जाता है, जिनसे जन–सामान्य को हानि होने की संभावना रहती है।

(III) आर्थिक विकास– वर्तमान समय में सभी सरकारों द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि आर्थिक विकास को केवल मात्र निजी क्षेत्र की प्रेरणा और पहल भी नहीं छोड़ा जा सकता, अतः प्रत्येक सरकार अपने देश के आर्थिक विकास में सक्रिय भूमिका निभाती है। इस सन्दर्भ में मुख्य आर्थिक कार्य निम्न प्रकार हैं–

(1) **आर्थिक नियोजन–** आज का युग आर्थिक नियोजन का युग है। प्रत्येक देश में, चाहे वह विकसित हो या अर्द्ध–विकसित हो, कृषि–प्रधान हो या उद्योग–प्रधान हो, समाजवादी हो या स्वतंत्र अर्थव्यवस्था–प्रधान देश हो, किसी–न–किसी रूप में आर्थिक नियोजन को अवश्य अपनाया जा रहा है। वास्तविकता यह है कि आधुनिक राज्य के आर्थिक कार्यों में आर्थिक नियोजन का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य बन गया है।

(2) **वित्तीय सहायता–** वर्तमान समय में प्रत्येक सरकार अपने क्षेत्र में उद्योगों और अन्य आर्थिक क्रियाओं के संचालन के लिए या तो स्वयं वित्तीय सहायता प्रदान करती है या ऐसी सहायता के लिए विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना करती है। वित्तीय सहायता ऋण, अनुदान या पूंजी के रूप में प्रदान की जा सकती है।

(3) **उद्योगों को संरक्षण–** राष्ट्रीय उद्योगों के विकास की दृष्टि से सरकार उद्योगों को संरक्षण भी प्रदान कर सकती है। इसके अन्तर्गत सम्बन्धित वस्तुओं का आयात या तो पूर्णतः रोक दिया जाता है या उन पर ऊँची दर से आयात कर लगा दिये जाते हैं।

(4) **तकनीकी सुविधाएँ एवं अनुसंधान कार्य–** तीव्र आर्थिक विकास की दृष्टि से तकनीकी सुविधाओं का विकास करने तथा नवीन विषयों पर अनुसंधान करने का विशेष महत्व है। इस संबंध में भी सरकार महत्वपूर्ण सुविधायें और सहायता प्रदान करती है।

(5) **आर्थिक संरचना का निर्माण–** आधुनिक सरकारें देश में आर्थिक संरचना के निर्माण का उत्तरदायित्व भी निभाती है। इसमें यातायात सुविधाओं की व्यवस्था, सिंचाई के साधन, विद्युत पूर्ति, जलपूर्ति, संचार सुविधाओं की व्यवस्था इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

(IV) उद्योगों का प्रत्यक्ष संचालन एवं प्रबंध– आधुनिक सरकारों उद्योगों का प्रत्यक्ष संचालन एवं प्रबंध भी करती हैं। इन उद्योगों का क्षेत्र विभिन्न देशों में वहाँ की आर्थिक

नीतियों से निर्धारित होता है। भारत में रेलवे, वायु परिवहन, बीमा और अनेक बैंकें सरकार के प्रत्यक्ष स्वामित्व एवं नियंत्रण में हैं। इनके अलावा भी विविध आधारभूत, पूंजीगत और आवश्यक उद्योगों की स्थापना सरकार द्वारा की गई है।

(V) आर्थिक नीतियों का निर्माण– आधुनिक सरकारें विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों और आर्थिक क्रियाओं के संबंध में विस्तृत नीतियों का निर्माण भी करती हैं। उन नीतियों में श्रम-नीति, कृषि-नीति, औद्योगिक-नीति, मौद्रिक-नीति, साख-नीति तथा आयात-निर्यात-नीति उल्लेखनीय हैं।

(VI) राजस्व– आधुनिक सरकारों के आर्थिक कार्यों में राजस्व क्रियाओं ने भी एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। ये क्रियायें सरकार के व्यय और उनकी पूर्ति के लिए करों को जुटाने तक ही सीमित नहीं रही हैं बल्कि अर्थव्यवस्था को उचित प्रकार से नियमित करने, धन को वितरण की असमानता को कम करने, पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित करने तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने का साधन बन गयी हैं।

(VII) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों एवं सम्मेलनों में भाग– वर्तमान समय में सरकारों की आर्थिक क्रियाओं में केवल अपने देश की दृष्टि से ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी वृद्धि हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक आर्थिक संगठन, जैसे- IMF, IBRD, WTO, UNCTAD इत्यादि कार्यशील हैं। आधुनिक सरकारें इन संगठनों के क्रिया-कलापों में सक्रिय रूप से भाग लेती हैं।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) राजस्व किसे कहते हैं?

उत्तर– सामान्यतया राजस्व का अर्थ राजकीय आय और राजकीय व्यय से है। सार्वजनिक संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था को ही राजस्व कहते हैं। किन्तु राजस्व का यह सीमित अर्थ है, क्योंकि इसमें सार्वजनिक ऋण का उल्लेख नहीं है, जो राजस्व का महत्वपूर्ण अंग है। इसके अलावा राजस्व में राज्य के वित्तीय प्रबन्ध का भी अध्ययन किया जाता है।

इकाई-2

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. कर किसे कहते हैं? इसकी विशेषतायें एवं करारोपण के मुख्य उद्देश्य बताइये।

उत्तर– कर– वर्तमान में कर सार्वजनिक आय का प्रमुख स्रोत है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने कर की अलग-अलग परिभाषायें प्रस्तुत की हैं किन्तु इनमें **प्रो. सेलिगमैन** द्वारा दी हुई परिभाषा सबसे अधिक उचित है।

प्रो. सेलिगमैन के अनुसार, 'कर एक व्यक्ति द्वारा सरकार को दिया जाने वाला वह अनिवार्य अंशदान है जिससे सरकार के उन व्ययों की पूर्ति की जा सके। जो सबके हित के लिये किये जाते है तथा करों का विशेष लाभ प्रदान करने से कोई सम्बन्ध नहीं होता।'

कर की विशेषतायें– कर की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

(1) **अनिवार्य अंशदान–** कर सरकार को अनिवार्य रूप से दिया जाने वाला अंशदान है। कर का भुगतान न करने पर व्यक्ति को सजा दी जा सकती है। कोई व्यक्ति इस आधार पर कि इसे वोट देने का अधिकार नहीं है अथवा उसे राज्य द्वारा कोई

लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है, सरकार को कर देने से इंकार नहीं कर सकता। एक व्यक्ति कर से केवल उस समय बचत सकता है जब वह उस वस्तु का उपभोग न करने के उद्देश्य से उसे क्रय न करे जिस पर कर लगाया गया है।

(2) **करों से प्राप्त आय सबके हित में व्यय की जाती है–** राज्य का उद्देश्य सब नागरिकों का कल्याण करना है। देश का प्रत्येक नागरिक कई तरह से राज्य पर निर्भर रहता है और बिना राज्य की सहायता के उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। आजकल देश के विकास और कुशल सेवाओं के उद्देश्य से बहुत से कार्य राज्य को सौंप दिये गये हैं जिनकी पूर्ति के लिये राज्य को बहुत व्यय करना पड़ता है।

(3) **कर किसी विशेष सेवा के लिये किया जाने वाला भुगतान नहीं है–** करों के भुगतान का राज्य द्वारा की जाने वाली सेवा अथवा उससे प्राप्त लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति भारी मात्रा में कर का भुगतान करे परन्तु उसे राज्य से कोई लाभ न हो।

(4) **सरकार द्वारा निर्धारण–** करों का निर्धारण व्यक्तियों की इच्छानुसार नहीं किया जाता, वरन् सरकार स्वयं विशिष्ट नियमों एवं कानूनों के अन्तर्गत करों का निर्धारण करती है।

(5) **व्यक्तियों द्वारा भुगतान–** कर, वस्तु अथवा सम्पत्ति अथवा आय पर लगाया जा सकता है किन्तु इसका भुगतान व्यक्ति द्वारा अपनी आय में से ही किया जाता है।

करारोपण के उद्देश्य–

(1) **आय प्राप्त करना–** यद्यपि कर लगाने के और भी उद्देश्य हैं किन्तु आय प्राप्त करना इनका मुख्य उद्देश्य है। सरकार के बढते हुये व्यय की पूर्ति के लिये कर लगाये जाते हैं। प्राचीनकाल में तो कर लगाने का एकमात्र उद्देश्य आय प्राप्त करना ही था।

(2) **राष्ट्रीय आय को एक उपयुक्त स्तर पर बनाये रखना–** कुछ अर्थशास्त्रियों का उनमें **प्रो. लर्नर** का नाम उल्लेखनीय है। यह मत है कि करों का उद्देश्य यह होना चाहिये कि देश की राष्ट्रीय आय एक निश्चित स्तर पर बनी रहे। इस उद्देश्य का आशय यह है कि करों से किसी आर्थिक क्रिया को इस प्रकार हतोत्साहित न किया जाये कि उसका उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े, क्योंकि इससे देश की राष्ट्रीय आय कम हो जायेगी।

(3) **आय एवं सम्पत्ति की असमानता को कम करना–** आजकल सरकारों का उद्देश्य लोककल्याणकारी राज्यों की स्थापना करना है जिसमें सामाजिक न्याय और आय के समान वितरण को प्रमुखता दी जाती है। प्रगतिशील करों के माध्यम से धनी एवं ऊँची आय वालों पर कर लगाये जाते हैं तथा निर्धन वर्ग को इससे मुक्त रखा जाता है। इस प्रकार आय के वितरण में समानता लाने का प्रयास किया जाता है।

(4) **पूँजी–निर्माण को प्रोत्साहन–** आजकल विकासशील देशों की सबसे बड़ी समस्या पूँजी के निर्माण की है, अतः कर भी इस उद्देश्य से लगाये जाते हैं कि बचत को उत्पादक कार्यों में लगाया जा सके। कर लगाने के पीछे मूल उद्देश्य यह है कि विकासशील देशों में बचत अपने आप विनियोगों की ओर प्रवाहित नहीं होती।

(5) **नियमन एवं नियन्त्रण–** करों का उद्देश्य आय प्राप्त करना ही नहीं होता बल्कि गैर आगम उद्देश्य से भी कर लगाये जाते हैं जिन्हें नियामक कर कहते है, जैसे- हानिकारक वस्तुओं के उपभोग को नियन्त्रित करना, आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना, किसी विशेष उत्पादन को नियन्त्रित करना, इत्यादि।

प्रश्न–2. प्रत्यक्ष का एवं अप्रत्यक्ष करों के गुण–दोषों की व्याख्या कीजिये।

अथवा

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों से क्या अभिप्राय है? इनके गुण–दोषों की विवेचना कीजिये।

अथवा

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों को परिभाषित कीजिये। उनके गुण–दोषों का उल्लेख कीजिये।

उत्तर– वह कर 'प्रत्यक्ष' कहलाता है, यदि उसका प्रथम आघात सहने वाले व्यक्ति के लिये उसका भार किसी अन्य व्यक्ति पर टालना सम्भव नहीं हो। जो व्यक्ति सर्वप्रथम कर का भुगतान करता है (अर्थात् कर का प्रथम आघात सहता है), वही उसका भार वहन करता है। अतः प्रत्यक्ष कर के सम्बन्ध में 'कराघात' और 'करभार' एक ही व्यक्ति पर पड़ता है। उदाहरणार्थ- 'आय-कर' का भार किसी अन्य व्यक्ति पर नहीं टाला जा सकता। अतः आय-कर एक 'प्रत्यक्ष कर' है। अतः प्रत्यक्ष करों के अन्य उदाहरण हैं- सम्पत्ति-कर, आस्ति-कर, उपहार-कर, पूँजीगत-लाभ पर कर, मालगुजारी, व्यवस्था-कर आदि। दूसरी ओर, कोई कर 'परोक्ष' कहलाता है, यदि उसका प्रथम आघात सहने वाले व्यक्ति के लिये उसका पूर्ण या आंशिक भार किसी अन्य व्यक्ति पर टालना सम्भव हो। परोक्ष करों के सम्बन्ध में 'कराघात' एक व्यक्ति पर होता है तथा 'कर-भार' किसी दूसरे व्यक्ति पर। वस्तुओं के उत्पादन, उपभोग (क्रय) और बिक्री पर लगाये जाने वाले कर 'परोक्ष कर' होते हैं। इन करों का भुगतान सर्वप्रथम उत्पादकों या विक्रेताओं द्वारा किया जाता है, जो बाद में कर की राशि वस्तु के मूल्य में सम्मिलित करके उसे उपभोक्ताओं से वसूल कर लेते हैं, परोक्ष कर लगाते समय सरकार का उद्देश्य भी उपभोक्ताओं को करारोपित करना होता है। वे परोक्ष रूप से अर्थात् वस्तुओं के विक्रेताओं के माध्यम से करारोपित किये जाते हैं। उत्पादन-शुल्क, सीमा-शुल्क, बिक्री-कर, मनोरंजन-कर, विद्युत-कर आदि परोक्ष करों के प्रमुख उदाहरण हैं।

प्रत्यक्ष करों के गुण– प्रत्यक्ष करों के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं–

(1) **उत्पादकता–** प्रत्यक्ष कर उत्पादक होते हैं। इनकी दरों में मामूली वृद्धि कर देने पर सरकार को बहुत बड़ी आय प्राप्त हो जाती है। देश की आर्थिक प्रगति के साथ-साथ प्रत्यक्ष करों से प्राप्त आय स्वयं बढ़ती जाती है।

(2) **मितव्ययता–** परोक्ष करों की अपेक्षा प्रत्यक्ष करों को सुगमता से और कम खर्च द्वारा वसूल किया जाता है। ये 'कर' स्त्रोत पर एकत्रित कर लिये जाते हैं।

(3) **लोच–** प्रत्यक्ष कर इस अर्थ में लोचपूर्ण होते हैं कि व्यक्तियों की आय एवं सम्पत्ति में वृद्धि के साथ-साथ इनसे प्राप्त राजस्व भी बढ़ता जाता है। लोचपूर्ण का अर्थ यह भी है कि मात्र करारोपण की दरें बढ़ाकर सरकार अपनी आय बढ़ा सकती है।

(4) **न्यायपूर्ण–** प्रत्यक्ष करों का भार टालना सम्भव नहीं होता। इनका स्वभाव प्रगतिशील होता है। अतः इन करों द्वारा 'त्याग की समानता' प्राप्त की जा सकती है। ये भुगतान- सामर्थ्य के सिद्धान्त पर आधारित है।

(5) **नागरिक भावना जागृत करने में सहायक–** प्रत्यक्ष कर व्यक्तियों में नागरिकता की भावना जागृत करते है। प्रत्यक्ष कर चुकाने वाले व्यक्ति यह जानने का प्रयास करते है कि राज्य द्वारा एकत्रित धनराशि उचित ढंग से व्यय की जा रही है या नहीं।

(6) **निश्चितता–** प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में करदाता और सरकार दोनों ओर निश्चितता पाई जाती है। करदाताओं को पता रहता है कि उन्हें कब और कितनी रकम चुकानी है। सरकार को भी कर-आगम का पता रहता है। निश्चितता का गुण भ्रष्टाचार में कमी लाता है।

प्रत्यक्ष करों के दोष– प्रत्यक्ष करों के प्रमुख दोष निम्नलिखित है-

(1) **असुविधाजनक–** प्रत्यक्ष करों के भुगतान में मानसिक कष्ट सम्मिलित रहता है। करदाताओं को आय-व्यय का हिसाब-किताब रखने में अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं।

(2) **अपवंचन–** बहुधा करदाता झूठा हिसाब-किताब दिखाकर कर के भुगतान से पूर्णतः या अंशतः बच जाते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष करारोपण को 'ईमानदारी पर कर' माना जाता है।

(3) **स्वैच्छिक–** यदि प्रत्यक्ष करारोपण प्रगतिशील है तब प्रगतिशीलता की दर बहुधा मनमाने ढंग से तय की जाती है। परन्तु यदि प्रत्यक्ष करारोपण आनुपातिक है, तब इसका भार निर्धनों पर अधिक पड़ता है। ये दोनों ही विकल्प बुरे है।

(4) **बचत और निवेश पर बुरा प्रभाव–** यदि प्रत्यक्ष कर बहुत भारी है, तब ये बचत और निवेश को हतोत्साहित करते हैं। इसका देश के उद्योग और व्यवसाय पर हानिप्रद प्रभाव पड़ता है।

प्रत्यक्ष करों के दोष मुख्यतः प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण उत्पन्न होते है, किसी आर्थिक सिद्धान्त की गैर-प्रयोज्यता के कारण नहीं। विकसित देशों में इन दोषों का निवारण कर दिया गया है।

अप्रत्यक्ष (परोक्ष) करों के गुण– अप्रत्यक्ष (परोक्ष) करों के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं–

(1) **न्यायपूर्ण–** यदि परोक्ष कर विलासिता-वस्तुओं पर लगा दिये जाते है, तब इन्हें समानता के सिद्धान्त पर आधारित माना जा सकता है, क्योंकि ऐसे करों का भुगतान केवल धनी व्यक्तियों द्वारा किया जायेगा।

(2) **सुविधाजनक–** राज्य की दृष्टि से परोक्ष कर सुविधाजनक होते हैं। सरकार इन करों को बड़ी मात्रा में उत्पादकों, आयातकर्त्ताओं और निर्यातकर्त्ताओं से प्राप्त कर लेती है। करदाता की दृष्टि से भी परोक्ष कर सुविधाजनक होते है। करदाता इन करों का भुगतान वस्तुओं और सेवाओ की खरीददारी करते समय छोटी-छोटी किस्तों में करते रहते हैं।

(3) **लोच–** यदि परोक्ष कर आवश्यक-वस्तुओं पर लगा दिये जाते है, तब इनमें लोच का गुण आ जाता है। इन करों की दरों में मामूली-सी वृद्धि कर देने पर सरकार को बड़ी मात्रा में आय प्राप्त हो सकती है।

(4) अपवंचन में कठिनाई– चूँकि परोक्ष कर वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में सम्मिलित हो जाते हैं, इसलिये इन करों का अपवंचन भी सम्भव नहीं होता। वस्तुओं और सेवाओं की खरीददारी करते समय व्यक्ति अनायास ही करों का भुगतान करते रहते हैं।

(5) समाज की सेवा– यदि सरकार शराब, गाँजा, अफीम आदि स्वास्थ्य के लिये हानिकारक पदार्थों पर ऊँची दर से उत्पादन या बिक्री-कर (परोक्ष-कर) लगा देती है, तब ये हानिकारक पदार्थों के उपभोग को हतोत्साहित करके समाज की सेवा भी करते हैं।

(6) व्यापक आधार– किसी एक बिन्दु पर भारी प्रत्यक्ष करारोपण सामाजिक-आर्थिक जीवन पर हानिप्रद प्रभाव डाल सकता है। परन्तु परोक्ष करों को विस्तृत क्षेत्र में फैलाया जा सकता है अर्थात् ये कर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं पर लगाये जा सकते हैं। अतः प्रत्यक्ष करों की तुलना में परोक्ष करों का आधार व्यापक होता है।

(7) निर्धनों तक पहुँचने का एकमात्र साधन– राजकीय व्यय की पूर्ति में प्रत्येक नागरिक को अपनी सामर्थ्य के अनुसार अंशदान करना चाहिये। प्रत्यक्ष करों के भुगतान से निर्धन व्यक्ति मुक्त रहते हैं। निर्धनों तक केवल परोक्ष करों के माध्यम से ही पहुँचा जा सकता है।

अप्रत्यक्ष (परोक्ष) करों के दोष– अप्रत्यक्ष (परोक्ष) करों के प्रमुख दोष निम्नलिखित है-

(1) प्रतिगामी– परोक्ष कर समानता और न्याय के सिद्धान्तों के विरुद्ध होते है। सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर लगे करों का भार धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है, क्योंकि निर्धनो को अपनी आय का बड़ा भाग इन वस्तुओं पर व्यय करना पड़ता है। इस दृष्टि से परोक्ष कर-प्रणाली 'प्रतिगामी' प्रकृति की होती है।

(2) अनिश्चितता– परोक्ष करों के सम्बन्ध में सरकार द्वारा लगाया गया अनुमान प्रायः गलत सिद्ध होता है, क्योंकि करारोपित वस्तुओं की मांग घटने-बढ़ने पर इन करों से उपलब्ध आय भी घटती-बढती रहती है। परोक्ष करों के सम्बन्ध में एडम स्मिथ का यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है कि 'दो और दो मिलाकर सदैव चार नहीं होते, वे तीन भी रह सकते है अथवा पाँच भी हो सकते हैं।'

(3) अमितव्ययी– परोक्ष करों की वसूली में काफी व्यय होता है, अतः इन करों में अमितव्ययता का दोष पाया जाता है।

(4) मन्दीकाल में अनुत्पादक– मन्दीकाल में परोक्ष कर अधिक उत्पादक सिद्ध नही होते, क्योंकि ऐसे समय जनसाधारण के पास कम क्रय-शक्ति होती है। फलतः करारोपित वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय कम परिमाण में होता है।

(5) चोरबाजारी और अपवंचन की सम्भावना– परोक्ष करारोपण में भी चोर-बाजारी तथा बनावटी बही-खातों द्वारा अपवंचन की सम्भावना बनी रहती है।

(6) लोच का अभाव– यदि परोक्ष कर मात्र विलासिता-वस्तुओं पर लगाये जाते है, तब इनमें लोच का अभाव पाया जाता है। विलासिता-वस्तुओं की माँग 'लोचदार' होती है। ऐसी वस्तुओं पर 'कर' लग जाने से उनके मूल्य में जो वृद्धि होती है, उससे अमुक वस्तुओं की माँग और बिक्री घट जाती है।

(7) नागरिकता की भावना जागृत नहीं करते– चूँकि परोक्ष करारोपण में सरकार और करदाताओं के बीच सीधा सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये करदाताओं में नागरिकता की भावना पैदा नही होती। वस्तुओं के मूल्य मे सम्मिलित रहने के कारण करदाता परोक्ष करो को 'वस्तु का बढ़ा हुआ मूल्य' समझते है।

(8) उद्योगों पर बुरा प्रभाव– यदि कच्चे-माल पर कर लगा दिया जाये, तब यह उद्योगों को हतोत्साहित करता है।

प्रश्न–3. एडम–स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त को समझाइये। दूसरे अर्थशास्त्रियों के इनमें कौन–कौन से सिद्धान्त और जोड़े हैं?

अथवा

करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये।

अथवा

करारोपण के विभिन्न प्रनियमों को संक्षेप में समझाइये।

अथवा

करारोपण में समता का क्या अर्थ है? विभिन्न सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन कीजिये।

अथवा

एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित करारोपण के सिद्धान्तों को समझाइये। क्या करारोपण के कोई अन्य सिद्धान्त भी हैं?

उत्तर– एक अच्छी कर-प्रणाली के लिये कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है। इनमें से किस सिद्धान्त को कितना महत्व प्रदान किया जाये, यह सरकार की आवश्यकताओं तथा देशकाल एवं परिस्थितियों पर निर्भर करता है। एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' में करारोपण के चार महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित किये गये ये सिद्धान्त निम्नलिखित है-

(1) समानता अथवा न्यायशीलता का सिद्धान्त– एडम स्मिथ के अनुसार– 'प्रत्येक राज्य की जनता को सरकार के कार्य संचालन हेतु यथा सम्भव अपनी योग्यता के अनुसार अंशदान करना चाहिये अर्थात् उस आय के अनुपात में जिसका आनन्द वे राज्य की संरक्षता में प्राप्त करते है।' इस सिद्धान्त का आशय यह है कि व्यक्तियों को अपनी योग्यतानुसार सरकार को कर देना चाहिये अथवा व्यक्तियों पर जो कर लगाये जाते हैं, उनका आधार व्यक्तियों की कर देने की योग्यता होनी चाहिये, उसी दशा में व्यक्तियों के साथ न्याय हो सकता है। यद्यपि यह सिद्धान्त सर्वाधिक स्वीकृत सिद्धान्त है, इसके बावजूद भी इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान करना जटिल है। एडम स्मिथ के अनुसार– निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा धनी व्यक्ति से अधिक कर लेना चाहिये, परन्तु व्यावहारिक रूप में ऐसा करना जटिल है। प्रो. लिण्डले शिराज ने इस सम्बन्ध में कहा है कि वास्तव में समानता के सिद्धान्त का अर्थ यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार राज्य को अंशदान करना चाहिये।

(2) निश्चितता का सिद्धान्त– निश्चितता का सिद्धान्त यह ज्ञान कराता है कि कर देने अथवा कर लेने वाले व्यक्तियों को इस बात की पूर्ण जानकारी होनी चाहिये कि उसे कब और कितना कर लेना अथवा देना है। कर लेने वाले के लिये तो यह ज्ञात करना आवश्यक है कि उसे किस साधन से कितनी आय प्राप्त हो सकेगी। यदि उसे सही जानकारी हो गयी तो वह अपने उद्देश्य में सफल हो सकेगा अन्यथा नहीं। एडम स्मिथ ने इस सिद्धान्त को समानता के सिद्धान्त से अधिक महत्व प्रदान करते हुये कहा है कि- यह निश्चितता कि प्रत्येक व्यक्ति को कितना भुगतान करना है, करारोपण में इतना अधिक महत्व नहीं रखती है, कि असमानता में काफी मात्रा में अन्तर मेरे विचार में इतनी बड़ी बुराई नहीं है, जितनी कि अनिश्चितता की थोड़ी-सी मात्रा में है। इसलिये कर निश्चित होने चाहिये।

(3) मितव्ययिता का सिद्धान्त– मितव्ययिता का आशय है कि कर वसूली का व्यय कम से कम होना चाहिये इसके साथ ही साथ कर की राशि का अधिक से अधिक भाग राजकीय कोष में जमा होना चाहिये। एडम स्मिथ के अनुसार, 'प्रत्येक कर संरचना इस प्रकार होनी चाहिये कि राजस्व की प्राप्ति में गरीब जनता की जेब से जाने वाली राशि तथा राजकोष को प्राप्त होने वाली राशि बहुत अधिक नहीं होनी चाहिये।' डॉ. डॉल्टन के अनुसार– 'सर्वोत्तम कर-प्रणाली वह है, जिसमें कर वसूल करने की लागत कर से प्राप्त आय के अनुपात में कम से कम हो। आधुनिक अर्थशास्त्री मितव्ययिता का आशय व्यय कम करना नहीं, अपितु अपव्यय को रोकने से लगाते है।' यदि कर लगाने से देश की आर्थिक स्थिति, व्यापार, उद्योग आदि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तो यह समझ लेना चाहिये, कि उस देश की सरकार मितव्ययिता सिद्धान्त का उल्लघन कर रही है। प्रो. जे. के. मेहता के अनुसार– 'सर्वोत्तम कर-प्रणाली वह है, जिसके अन्तर्गत कर वसूलने की लागत संग्रहित की गयी आय के अनुपात में कम हो।' इस प्रकार मितव्ययिता के सिद्धान्त के अनुसार, कर वसूली की प्रक्रिया में सभी प्रकार के अपव्ययों को रोका जाना चाहिये।

(4) सुविधा का सिद्धान्त– एडम स्मिथ ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि 'प्रत्येक कर ऐसे समय तथा ऐसी रीति से लगाया जाना चाहिये, जो करदाता के लिये अत्यधिक सुविधाजनक हो।' यदि कर का भुगतान करने में अत्यधिक कागजी कार्यवाही करनी पड़े और अन्य असुविधायें हों तो करदाता कर से बचने का प्रयास करता है, इसलिये करारोपण में करदाता की सुविधा का पूर्ण ध्यान रखा जाना आवश्यक है। भारत में भूमि पर लगान प्रायः फसल आ जाने के पश्चात् ही वसूल किया जाता है और अधिकारियों एवं कर्मचारियों का आयकर वेतन में से काट लिया जाता है यह दोनों कर सुविधाजनकता के उदाहरण हैं। इससे करदाता को न तो असुविधा ही होती है और न ही वह करों का भार महसूस करता है।

करारोपण के अन्य सिद्धान्त– एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित करारोपण के सिद्धान्त आज भी महत्वपूर्ण हैं। समय और परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ अन्य सिद्धान्तों की आवश्यकता अनुभव की गयी। करारोपण के अन्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

(1) लोच का सिद्धान्त– लोच का सिद्धान्त बेस्टेबिल द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इस सिद्धान्त का आशय यह है कि कर लोचपूर्ण होने चाहियें जिससे देश की आर्थिक एवं

राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार इससे पर्याप्त आय प्राप्त हो सके। लोच के सिद्धान्त में कर कम अथवा अधिक करने की पूर्ण सम्भावना होनी चाहिये।

(2) उत्पादकता का सिद्धान्त– बेस्टेबिल ने करारोपण के सिद्धान्तों में उत्पादकता के सिद्धान्त को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। उत्पादकता का आशय यह है कि वर्तमान में राज्य को कर से पर्याप्त आय प्राप्त हो तथा इस प्रकार की आय भविष्य में भी निरन्तर होती रहना चाहिये। कर के भार से करदाताओं की उत्पादन शक्ति, उनकी आय, उपभोग बचत, विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। इससे एक ओर व्यक्तियों के जीवन-स्तर में वृद्धि होती है तथा दूसरी ओर देश में उत्पादन क्षेत्र भी विस्तृत होता है।

(3) सरलता का सिद्धान्त– सरलता का सिद्धान्त आरमिटेज स्मिथ द्वारा प्रतिपादित किया गया है। सरलता से आशय यह है कि कर निर्धारण सम्बन्धी उद्देश्यों एवं प्रभावों की जानकारी में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। कर सरलता से एकत्रित किया जा सके तथा करदाता को कोई प्रशासन सम्बन्धी एवं लेखा-जोखा सम्बन्धी जटिलता न हो। इसलिये यह कहा जा सकता है कि कर-प्रणाली जितनी ही सरल होगी, वह करदाताओं एवं राज्य दोनों के लिये ही सुविधाजनक होगी।

(4) वांछनीयता का सिद्धान्त– सामान्य रूप से जनता द्वारा करों का विरोध किया जाता है क्योंकि कर भार स्वरूप होते हैं। इसलिये कर लगाने से पूर्व भलीभांति विचार-विमर्श कर लेना चाहिये कि क्या करों को लगाना वांछनीय है। क्या उस कर के बिना सरकार का कार्य चल सकता है अथवा समानता की स्थापना हेतु वह कर आवश्यक है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर प्राप्त कर लेना चाहिये। लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में राज्य की राजस्व नीति की सफलता के लिये इस सिद्धान्त का पालन करना आवश्यक है।

(5) समन्वय का सिद्धान्त– कर-प्रणाली में समन्वय का होना अतिआवश्यक है। विभिन्न करों को एकत्रित करने में सीमाओं का उल्लघन न हो तथा कर एकत्रित करने वाले अधिकारी एक दूसरे के क्षेत्र का उल्लघन भी न करें तथा उनमें अधिकतम समन्वय होना चाहिये।

(6) एकरूपता का सिद्धान्त– कोनार्ड एवं विती के अनुसार- करों में एकरूपता होनी चाहिये, समस्त करों को लगाने की विधि एक समान होनी चाहिये तथा उन सभी करों की दरों का निर्धारण सामान्य उद्देश्य से किया जाना चाहिये। कर-प्रणाली में सामान्यता का गुण भी उपलब्ध होना चाहिये, जिससे हिसाब-किताब आसानी से किया जा सके।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि एक अच्छी कर-प्रणाली में उपर्युक्त सभी सिद्धान्त होने चाहिये किन्तु व्यवहार में अनेक करों के सम्बन्ध में इन सिद्धान्तों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। **तुदज** के अनुसार- 'न तो कोई कर पूर्ण है और न ही कोई कर पूर्णतया खराब है।' इसलिये संघर्ष की स्थिति में कम महत्वपूर्ण सिद्धान्त की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त को प्राथमिकता प्रदान की जानी चाहिये। **डॉल्टन** का मत है कि, 'सार्वजनिक वित्त की किसी भी प्रणाली पर पूर्णरूपेण विचार विमर्श के पश्चात् ही उसके गुणों अथवा अवगुणों के बारे में अन्तिम फैसला किया जा सकता है।' ठीक इसी प्रकार किसी कर-प्रणाली पर भी

पूर्णरूपेण विचार-विमर्श किया जाना चाहिये क्योंकि विभिन्न कर अपने कुछ प्रभावों द्वारा एक-दूसरे में सुधार और सन्तुलन लाते हैं।

प्रश्न-4. भारतीय कर-प्रणाली की विशेषताओं की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये। का सुधार हेतु सुझाव भी दीजिये।

अथवा

भारत की कर-ढाँचे की प्रमुख विशेषतायें क्या है? भारतीय कर-व्यवस्था को प्रतिगामी क्यों कहा जाता है?

अथवा

'भारतीय कर-प्रणाली ऐसी है कि वह श्रम-आय पर बहुत भार डालती है, परोक्ष करों से (जो कि अधिकांशतः होते हैं) अनुपात से अधिक आय प्राप्त की जाती है, न कि प्रत्यक्ष करों से। अनार्जित आय व पूँजी पर आय करों के मामलों में बहुत से तरीके अपवंचन के लिये छोड़ दिये जाते हैं।' व्याख्या कीजिये।

उत्तर- एक विकासशील देश भारत की कर-प्रणाली यद्यपि परम्परागत और पुरानी है तथापि समय-समय पर अनेक कर जाँच समितियों तथा आयोगों की अनुशंसाओं पर कुछ संशोधन और परिवर्द्धन किये गये हैं, फिर भी अभी त्रुटियों के सुधार के पर्याप्त अवसर विद्यमान है, जैसाकि प्रो. श्रीमती हिक्स का कहना है कि, "यह स्वाभाविक है कि विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले कर के ढांचे की रूपरेखा परम्परागत अल्प-विकसित देश में हमारी जैसी अति आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की तुलना से बहुत भिन्न होगी।" भारतीय कर जाँच आयोग ने उन उद्देश्यों का उल्लेख किया है जिस पर भारत जैसे देश के लिये कर ढाँचे को आधारित होना चाहिये। जैसे- (क) वितरण में सुधार, (ख) सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को प्रोत्साहन, (ग) निजी क्षेत्र की उत्पादन क्षमता में वृद्धि, (घ) अर्थव्यवस्था में स्थायित्व को प्रोत्साहन। भारत सरकार का प्रयत्न रहा है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कर ढांचा निर्मित किया जावे। भारत सरकार के एक प्रकाशन 'विकास के लिये कर (1975)' में भारतीय कर ढाँचे और मुख्य लक्षणों को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार दिया गया है।

भारतीय कर ढांचा और उसके मुख्य लक्षण या विशेषतायें

(1) **बहु कर-प्रणाली-** भारतीय कर-प्रणाली बहुआयामी है जिसका तात्पर्य है प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों का समन्वय। आयकर, धनकर, सम्पत्ति या मृत्यु-कर जैसे प्रत्यक्ष कर एक ओर देश के विकास और नवनिर्माण के लिये हैं तो दूसरी ओर परोक्ष कर आनुपातिक है जिसमें बिक्री कर, वस्तु कर, उत्पादन कर आदि सम्मिलित है। प्रत्यक्ष कर अमीर-गरीब के बीच विषमता कम करने या वितरण की समानता के लिये हैं तो परोक्ष कर विलास के उपभोग को नियंत्रित कर सेवा लागत का स्मरण दिलाते हैं। सीमा शुल्क तथा मादक वस्तुओं पर कर राज्य उत्पादन कर है जो उत्पादन नियंत्रित करते है।

(2) **परोक्ष करों पर अधिक निर्भरता-** भारत एक विकासशील और निर्धन देश है। अतः अर्थव्यवस्था में प्रत्यक्ष करों से इतनी आय प्राप्त करना सम्भव नहीं जिससे विकास व्यय पूरे किये जा सके। अतः परोक्ष करों की सहायता लेकर लोगों को बचत करने को प्रोत्साहित भी किया जाता है तथा साथ में आय प्राप्ति का ये महत्वपूर्ण स्त्रोत है।

(3) **समाजवादी सिद्धान्त पर आधारित अर्थव्यवस्था-** भारत के संविधान की भूमिका में ही कहा गया है कि भारत को एक समाजवादी ढंग के समाज बनाने का लक्ष्य रखा गया है। अतः करारोपण भी अमीरों पर अधिक कर तथा अधिक दर से कर, निर्धनों को करों से मुक्ति आदि के द्वारा वितरण की समानता स्थापित करने तथा विषमता रोकने तथा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकने की व्यवस्था की जाती है।

(4) **करारोपण के सिद्धान्तों का पालन-** प्रो. एडम स्मिथ द्वारा बतलाये गये सिद्धान्त, न्याय या समानता, निश्चितता, बचत तथा मितव्ययता पर आधारित कर-ढांचे का देश में विकास किया गया है ताकि किसी भी प्रकार नागरिकों को अधिक कर भार सहन न करना पड़े और न्याय तथा समान त्याग के आधार पर प्रत्येक नागरिक कर दे सके। इतना ही नहीं करारोपण में उत्पादकता, लोच, समन्वय आदि अन्य सिद्धान्तों का भी पालन किया गया है। भारतीय कर-प्रणाली को न्यायपूर्ण बनाने की चेष्टा की गई है।

(5) **करारोपण का निरन्तर क्षेत्र विस्तार-** भारत के अल्प विकसित स्वरूप को देखते हुये, यहाँ की दरिद्रता तथा निम्न जीवनस्तर के कारण उपभोक्ता वस्तुओं पर कर की मात्रा और दर प्रतिवर्ष धीरे-धीरे बढ़ाई जा रही है ताकि बचत, निवेश विपरीत रूप से प्रभावित न हो और नागरिक अपनी करदेय क्षमता के अनुरूप कर दे सकें।

(6) **करों के द्वारा बचतों तथा निवेश को प्रोत्साहन-** भारत में प्रत्यक्ष कर की दरें पूर्व में काफी अधिक थीं जो 10 प्रतिशत थी जिससे बचत और निवेश हतोत्साहित होते थे किन्तु अब इन दरों की उच्च तथा निम्न सीमायें इस स्तर पर लाई गई है कि बचत प्रोत्साहित हो सके। बचत के लिये आय-कर, सम्पत्ति-कर आदि में अनेक कटौती प्रोत्साहन रखे गये है। आयकर की व्यक्तिगत छूट सीमा भी बढ़ाकर 18,000 से 22,000 प्रति व्यक्ति की गई है। इसी तरह सम्पत्ति-कर में छूट-सीमा में वृद्धि की गई है।

(7) **अनुत्पादक व्यय निषेध-** व्यापारिक तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानों की फिजूलखर्ची रोकने के लिये अनुत्पादक व्ययों पर कर की दरों में वृद्धि की गई है, साथ ही मनोरंजन भत्तों आदि पर सन् 1970 से प्रतिबन्ध लगा दिये गये है। इन्हें व्यापार के लाभ तथा आय में सम्मिलित कर लिया गया है।

(8) **कर का युक्तियुक्तकरण-** जनवरी 1956 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो. कैल्डोर को करों के ढाचे का अध्ययन कर उसे उपयुक्त बनाने के लिये आमन्त्रित किया गया। उनकी सलाह पर आयकर की दर को कम कर उपहार, सम्पत्ति तथा व्यय कर आरोपित कर करों को उपयुक्त तारतम्य में लाया गया। विभिन्न प्रकार की वसूलियों, उगाहियों को मिलाकर एक बना दिया गया है। अर्जित तथा अनार्जित आय के लिये अधिभार की व्यवस्था कर सारिणी देखकर कर की गणना आदि कार्य सरल बना दिये गये है। विकास कार्यक्रम के अनुकूल कर-प्रणाली बनाने की

कोशिश की गई है, इससे स्पष्ट है कि भारतीय कर-प्रणाली अधिकतम कल्याण पर आधारित है।

भारतीय कर-प्रणाली के दोष

(1) करायान का अवैज्ञानिक ढांचा– भारत की कर-प्रणाली में समय-समय पर परिवर्तन इसलिये करने पड़ते हैं क्योंकि समय-समय पर उत्पन्न बाधाओं को दूर किया जा सके। बजट मे सन्तुलन ही विचारणीय विषय रहा है। उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव, करापात की जानकारी पर कभी भी गौर नहीं किया गया। यह कर ढांचे की निराशाजनक स्थिति के कारण ही हुआ है।

(2) कर-प्रणाली में वांछित लोच का अभाव– किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ-साथ करों से प्राप्त आय में वृद्धि होती है परन्तु भारत में यह स्थिति सन्तोषप्रद नहीं है। सन् 1946-47 में भारत का कुल राजस्व करों द्वारा कुल राष्ट्रीय आय का 5.75 प्रतिशत था जो 1976-77 में 17.76 प्रतिशत हो गया। प्रति व्यक्ति आय तथा प्रति व्यक्ति कराधान में वार्षिक वृद्धि क्रमशः 6.64 और 1.61 प्रतिशत ही रही। कर राजस्व की इस प्रकृति से स्पष्ट है कि कर-प्रणाली में समुचित लोच नहीं है।

(3) राष्ट्रीय आय का न्यून भाग ही करों के रूप में प्राप्त होना– भारत की राष्ट्रीय आय में से कर राजस्व का अनुपात केवल 13 प्रतिशत है। राष्ट्रीय आय के प्रतिशत में कर से प्राप्त आय की स्थिति अन्य देशों की अपेक्षा दयनीय है। इसका मुख्य कारण आय का कृषि क्षेत्र से प्राप्त होना और कृषि आय का आयकर से मुक्त होना है। एक अन्य कारण देश का एक बड़ा भाग गैर-मौद्रिक विनिमय क्षेत्र में आता है जिससे कर आय पर प्रभाव पड़ता है।

(4) प्रतिगामी और असन्तुलित कर-प्रणाती– भारत में परोक्ष कर अधिक हैं साथ ही कर की दरें प्रतिगामी हैं। यद्यपि समाजवादी कर नीति की बात की जाती है तथापि व्यवहार में ऐसा नहीं है। धनिकों पर कर भार आज भी कम है, साथ ही उन्हें कटौती सम्बन्धी कई रियायतें देकर करमुक्त कर दिया गया है। स्पष्ट है कि भारतीय कर-व्यवस्था असंतुलित है।

(5) मितव्ययता का अभाव– कर वसूली का प्रशासनिक खर्च आय के अनुपात में अधिक है। कर- संग्रह में भ्रष्टाचार भी है। कर-संग्रह व्यय अधिक होने के कारण राजस्व कम प्राप्त होता है।

(6) आय की अनिश्चितता– भारतीय अर्थव्यवस्था मानसून पर आधारित है। अतः अच्छी वर्षा व फसल होने पर राजस्व में वृद्धि होती है अन्यथा कमी। प्रतिवर्ष कहीं न कहीं सूखा, बाढ़ जैसी स्थितियाँ आर्थिक संकट पैदा करती हैं और इनसे निपटने के लिये हर वर्ष कर-व्यवस्था में परिवर्तन करने पड़ते हैं।

(7) करवंचन के पर्याप्त अवसर– भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में कहा जाता है कि यहाँ काले धन की समान्तर अर्थव्यवस्था है जिसका कारण बड़े पैमाने पर करवंचन होना है। करों की वसूली दोषपूर्ण होने, कर की दरें अधिक होने जैसे कारणों से

करदाता करवंचन करने को बाध्य होता है। आज की स्थिति में 18,000 करोड़ रुपये का करवंचन का अनुमान है जो स्थिति की भयाभयता का संकेत है।

(8) कर आय का अनुत्पादक प्रयोग– भारत में करों से प्राप्त आय का बड़ा भाग विकास कार्यों के लिये प्रयुक्त न होकर नागरिक प्रशासन और सुरक्षा पर ही व्यय हो जाता है इस तरह राष्ट्र निर्माण और उत्पादक कार्यों के लिये कम ही शेष रह जाता है जिससे जनता पर कर भार में वृद्धि होती है।

(9) कर की ऊंची दरें– विश्व के विभिन्न देशों में भारत में कर की दरें सर्वाधिक हैं। आयकर की दरें ही कुछ समय पूर्व 90 प्रतिशत तक थीं। कर की दरें ऊंची होने से बचत तथा विनियोग प्रोत्साहन समाप्त होकर करवंचन की सम्भावनायें बढ़ती हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से करदाताओं में निराशा उत्पन्न होती है।

भारतीय कर-व्यवस्था सरकारी प्रयासों की शिथिलता और देश की विषम राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण न्यूनाधिक गम्भीर दोषों का शिकार रही है। देश के प्रजातंत्रीय स्वरूप के कारण तुरन्त तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन करना सम्भव नहीं है। इसलिये कर ढांचे में क्रमशः और धीरे-धीरे परिवर्तन किये जा रहे हैं। इसके लिये समय-समय पर सुझाव देने, विश्लेषण करने हेतु आयोग तथा समितियाँ गठित की गईं। तदानुरूप परिवर्तन जारी हैं।

भारतीय कर-प्रणाली में सुधार के सरकारी प्रयास

(1) कर जाँच आयोग 1953– डा. जानमथाई की अध्यक्षता में अप्रेल 1953 में इस आयोग को कर-प्रणाली में वांछित सुधारों का सुझाव देने के लिये नियुक्त किया गया, जिसने दिसम्बर 1954 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस आयोग ने सामान्य कर-पद्धति, केन्द्र, प्रान्तीय तथा स्थानीय राजस्व से सम्बन्धित अनेक सुझाव सरकार के सामने रखे।

(2) भारतीय कर सुधार पर प्रो. कैल्डोर की रिपोर्ट– जनवरी 1956 में कर-व्यवस्था में सुधार हेतु केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से प्रो. कैल्डोर को आमन्त्रित किया गया। उन्होंने एक एकीकृत कर ढाँचा सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया। आयकर, सम्पत्ति कर, उपहार कर, व्यय कर और पूँजी लाभ पर कर के सम्बन्ध में 4 नये कर लगाने का सुझाव दिया। आयकर की दर अधिकतम 45 प्रतिशत करने की सलाह दी।

(3) प्रत्यक्ष कर प्रशासन जाँच समिति 1958– महावीर त्यागी की अध्यक्षता में सन् 1958 में प्रशासनिक ढांचे में सुधार हेतु समिति नियुक्त की गई, जिसने 367 सिफारिशें कर अपनी रिपोर्ट नवम्बर 1958 में प्रस्तुत कर दी।

(4) प्रत्यक्ष कर जाँच समिति (वांचू समिति)– उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के.एन.वांचू की अध्यक्षता में प्रत्यक्ष करों की जाँच हेतु मार्च 1970 में इस समिति की नियुक्ति की गई। इसे काले धन पर रोक लगाने, निकालने, कर विधान द्वारा दी गई छूटों का निरीक्षण तथा कर-निर्धारण व प्रशासन पर सुझाव देने का कार्य दिया गया। समिति ने दिसम्बर 1971 में रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसने कर की दरें कम करने, आयकर के अन्तर्गत कृषि आय को लेने (जो कालेधन को निर्मित

करने का स्त्रोत है), राजनीतिक दलों को अनुदान देने और परमिट, लायसेन्स कम करने जैसी सिफारिशें की।

(5) **अप्रत्यक्ष कर जाँच समिति (झा समिति)**– सन् 1976 जनवरी में पुनः एक परोक्ष करों पर अनुशंसा करने के लिये एल.के.झा की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जिसने अपनी रिपोर्ट जनवरी 1978 में प्रस्तुत की। इस समिति ने बतलाया कि देश की 60 करोड़ जनसंख्या में 100 रुपये मासिक आय वाली जनसंख्या केवल 8 प्रतिशत है जिस पर परोक्ष करों का भार केवल कुल आय का 15 प्रतिशत है जबकि 100 रुपये मासिक से कम आय वाली जनसंख्या 92 प्रतिशत है जिस पर कुल परोक्ष करों की आय का 55 प्रतिशत भार है। यह भार नगरीय मध्यम वर्ग पर है। अतः उत्पादन शुल्क, बिक्री कर, आयात और चुंगी पर अनेक सुझाव समिति ने दिये।

(6) **प्रत्यक्ष कर जाँच समिति (चौकसी समिति)**– सन् 1977 जून में एन.ए. पालकीवाला की अध्यक्षता में नियुक्त समिति (बाद में सी.सी.चौकसी की अध्यक्षता में) ने दिसम्बर 1977 में 177 सिफारिशों सहित अपनी अन्तरिम रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति की अन्तरिम रिपोर्ट में 268 अनुशंसायें थीं, जिसके अन्तर्गत आय, उपहार, सम्पत्ति और कृषि आय पर कर से सम्बन्धित अनेक अनुशंसायें की गईं।

प्रश्न–5. करारोपण के प्रभावों को कितने भागों में बाँटा गया है? वर्णन कीजिये।

अथवा

करारोपण के प्रभावों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– करारोपण के उत्पादन पर प्रभाव– डाल्टन के अनुसार, करारोपण के उत्पत्ति पर तीन प्रकार के प्रभाव होते हैं–

(1) कार्य करने और बचत करने की योग्यता पर प्रभाव

(2) कार्य करने और बचत करने की इच्छा पर प्रभाव

(3) आर्थिक साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव।

(1) कार्य करने और बचत करने की योग्यता पर प्रभाव–

(A) कार्य करने की योग्यता पर प्रभाव– कर लगाये जाने के फलस्वरूप करदाता अपनी एक निश्चित आय से वंचित हो जाता है। इससे करदाता की क्रय–शक्ति कम हो जाती है। यदि करदाता को कर भुगतान के कारण अपनी अनिवार्य और आरामदायक आवश्यकताओं की कटौती करनी पड़ती है तो इसका उसकी कार्य करने की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। प्रो. डाल्टन के अनुसार, 'किसी भी व्यक्ति की कार्य करने की योग्यता उस करारोपण से घट जाती है जो उसकी कार्यक्षमता को कम कर देता है। अतः आधुनिक समाज के निर्धन सदस्यों पर किसी भी प्रकार के करारोपण के विरुद्ध बहुत शक्तिशाली कारण हैं।' निर्धन वर्ग के लोगों पर जो भी कर लगाये जाते हैं, उससे उन्हें अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के उपभोग में कमी करनी होती है। इसका परिणाम यह होता है कि उनका जीवन–स्तर गिर जाता है और उनकी कार्य करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। अतः निर्धन वर्ग पर करारोपण अनुचित माना जाता है।

(B) बचत करने की योग्यता पर प्रभाव– प्रायः सभी प्रकार के करों का बचत करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि कर लगाने से करदाताओं की क्रय–शक्ति कम हो जाती है और वे बचत नहीं कर पाते। जब सरकार द्वारा कर लगाये जाते हैं तो भले ही इससे करदाताओं के उपभोग पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। पर उनकी बचत करने की शक्ति तो अवश्य ही कम हो जाती है।

(2) कार्य करने और बचत करने की इच्छा पर प्रभाव–

(A) कार्य करने की इच्छा पर प्रभाव– जहाँ तक करारोपण का व्यक्ति की कार्य करने की इच्छा पर प्रभाव का प्रश्न है, इसके लिये दो बातों को ध्यान में रखना चाहिये–

(i) कर की प्रकृति, एवं (ii) कर के प्रति व्यक्ति विशेष की प्रतिक्रिया।

डाल्टन के अनुसार, 'किसी विशेष कर का या कर परिवर्तन का इच्छा पर प्रभाव अंशतः करदाता की मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रकृति एवं अंशतः करों की प्रकृति पर निर्भर करता है।'

कर के प्रति, व्यक्ति की प्रतिक्रिया भी उसकी कार्य करने की इच्छा को प्रभावित करती है। इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि व्यक्ति–विशेष की आय की लोच क्या है ? प्रो. डाल्टन के अनुसार, 'किसी भी व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उसकी आय के लिये मांग की लोच जो वह अपनी आय प्राप्त करने के लिये प्रयत्न तथा त्याग के रूप में करता है, के द्वारा निर्देशित होती है।'

इसके विपरीत, जिन व्यक्तियों की आय अधिक होती है उनकी आय की लोच अधिक होती है। यदि ऐसे व्यक्तियों पर सरकार कर लगाती है तो उनकी कार्य करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(B) बचत करने की इच्छा पर प्रभाव– सामान्य रूप से करारोपण का बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि कर लगने से अथवा वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से लोग अपने वर्तमान उपभोग में कमी न करके प्रायः अपनी बचत में कमी करते हैं। किन्तु यदि लोग भविष्य के प्रति सजग रहते हैं तो ऐसी स्थिति में लोग कुछ न कुछ मात्रा में अपने उपभोग में कटौती करके भविष्य के लिये बचत करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो. डाल्टन का कहना है कि करारोपण व्यक्तिगत बचत और विनियोग दोनों को हतोत्साहित कर सकता है।

(3) आर्थिक साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव– करारोपण के फलस्वरूप उत्पत्ति के साधनों का स्थानान्तरण भी होता है। इससे उत्पत्ति की मात्रा ही नहीं बल्कि उसकी संरचना भी प्रभावित होती है।

उत्पत्ति के साधनों का स्थानान्तरण किस दिशा में होगा, यह सम्बन्धित वस्तुओं की माँग और पूर्ति की लोच पर निर्भर रहता है। यह निम्न प्रकार से हो सकता है–

(A) सामाजिक कल्याण की दिशा में– यदि विलासिता की वस्तुओं अथवा उपभोग की दृष्टि से हानिकारक वस्तुओं पर कर लगाये जाते हैं तो यह सामाजिक कल्याण की दृष्टि से उचित होता है। क्योंकि ऐसे उद्योगों में लगे साधन आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की ओर प्रवाहित होने लगते हैं।

(B) सामाजिक कल्याण के प्रतिकूल अथवा हानिकारक– यदि ऐसी वस्तुओं पर कर लगाया जाता है, जो उपभोग की दृष्टि से आवश्यक होती हैं तो वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो

जाती है। इसका एक परिणाम तो यह होता है कि ऐसी वस्तुओं का उपभोग कम हो जाता है जिससे कार्यक्षमता मे कमी होती है तथा उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। दूसरा प्रभाव यह होता है कि उत्पत्ति के साधन कम उपयोगी वस्तुओ की ओर प्रवाहित होने लगते है।

(C) वर्तमान उपभोग से भविष्य के उपभोगों को स्थानान्तरण– उपभोग पर कर लगाने का प्रभाव यह होता है कि बचतों को प्रोत्साहन मिलता है जिससे उत्पत्ति के साधनों का हस्तान्तरण वर्तमान उपभोग से भविष्य के उपभोगों की ओर होने लगता है।

(D) एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण– यदि दो राज्यों से सम्बन्धित करों की दर मे भिन्नता रहती है तो उत्पत्ति के साधन उन क्षेत्रों में जहाँ कर की दर ऊँची होती है, उन स्थानों की ओर प्रवाहित होने लगते हैं जहाँ तुलनात्मक रूप से कर की दर कम होती है।

करारोपण के वितरण पर प्रभाव

करारोपण का वितरण पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कुछ कर देश में असमानता को बढ़ाते है तथा कुछ कर आय और सम्पत्ति की असमानता को कम करते हैं। अर्थशास्त्री वैस्टेबल का मत था कि करारोपण के द्वारा सम्पत्ति और आय के पुनर्वितरण का प्रयास नहीं किया जाना चाहिये किन्तु अब इस मत को कोई मान्यता नहीं देता। आजकल तो करारोपण को आय के वितरण में समानता लाने के लिये एक आवश्यक राजस्व नीति के रूप में प्रयोग किया जाता है।

डाल्टन के अनुसार, 'अन्य बातें समान रहने पर करारोपण की वह प्रणाली श्रेष्ठ है यदि करारोपण द्वारा धनी वर्ग पर ऊँचे और प्रगतिशील कर लगाये जाते हैं तथा इस प्रकार एकत्रित राशि का प्रयोग निर्धन वर्ग की आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये किया जाता है तो कुछ सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है।'

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रखते हुये आय की आवश्यकताओं को दूर करने की दृष्टि से प्रगतिशील कर जैसे, आय कर, सम्पत्ति कर, उत्तराधिकार कर, उपहार कर, आदि का विशेष महत्व है। इसी उद्देश्य से निर्धन वर्ग को इन करों से मुक्त रखा जाता है।

करारोपण के अन्य प्रभाव– उपर्युक्त प्रभावों के अतिरिक्त करारोपण के अन्य प्रभाव भी होते हैं, जो इस प्रकार हैं–

(1) **उपभोग पर प्रभाव–** करों का उपभोग पर भी प्रभाव पड़ता है। आय पर लगाये जाने वाले कर, करदाता की क्रयशक्ति को कम कर देते हैं। यदि ये कर तुलनात्मक रूप से निर्धन वर्ग पर लगाये जाते हैं तो उनके जीवन–स्तर पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि निम्न वर्ग को प्रत्यक्ष करों से मुक्त रखा जाता है। यही बात सामान्य उपभोग की बातों पर भी लागू होती है।

(2) **आर्थिक स्थिरता पर प्रभाव–** करारोपण का मुख्य उद्देश्य देश में आर्थिक स्थिरता स्थापित करना होना चाहिये तथा करारोपण से धन प्राप्ति के उद्देश्य को कम महत्व दिया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में प्रो. लर्नर का मत है कि करारोपण का एकमात्र उद्देश्य आर्थिक स्थिरता लाना होना चाहिये। किन्तु यह मत अतिवादी है क्योंकि

आजकल मिले–जुले उद्देश्यों के लिये करों का प्रयोग किया जाता है। फिर करों का चाहे जो भी उद्देश्य हो, यह तो निश्चित है कि देश की आर्थिक स्थिरता पर उनका प्रभाव पड़ता है।

माँग बढ़ने से उत्पादन में वृद्धि होती है जिससे देश में व्यापारिक क्रियाओं और रोजगार में वृद्धि होती है। इसके विपरीत, यदि उपभोग में कमी होती है तो इसका अन्तिम प्रभाव यह होती है कि आर्थिक क्रियाओं में मन्दी आती है। इस प्रकार जो कर उपभोग के सामान्य स्तर को कम करते है और बचत में वृद्धि करते है, उनकी व्यापारिक क्रियाओं और रोजगार और रोजगार के स्तर में भी कमी आती है। इसी प्रकार जो कर विनियोग को हतोत्साहित करते हैं उनका भी रोजगार और व्यापरिक क्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

प्रश्न–6. सार्वजनिक आय किसे कहते हैं? इसे कितने भागों में बाँटा गया है?

उत्तर– सार्वजनिक आय का अर्थ– सार्वजनिक आय का अर्थ दो प्रकार से लिया जाता है– विस्तृत रूप में और संकुचित रूप में। विस्तृत अर्थ में सार्वजनिक आय के अन्तर्गत राज्य को प्राप्त होने वाली सभी प्राप्तियों को शामिल किया जाता है तथा इसमें लोक ऋण, उपहार, आदि को भी ले लिया जाता है। लेकिन संकुचित अर्थ में सार्वजनिक आय में केवल उन्हीं प्राप्तियों का समावेश किया जाता है जो सामान्य रूप से आगम के अन्तर्गत आती हैं। जैसे– करो, शुल्क, जुर्माना, सम्पत्ति अधिग्रहण एवं सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त आय, इत्यादि। **प्रो. डाल्टन** के अनुसार, 'सार्वजनिक आय को संकुचित और विस्तृत दो अर्थों में किया जाता है। विस्तृत अर्थ में इसके अन्तर्गत सभी प्राप्तियां शामिल की जाती हैं परन्तु संकुचित अर्थ में इसके अन्तर्गत केवल उन्हीं प्राप्तियों को शामिल किया जाता है जो आगम की सामान्य धारणा के अन्तर्गत आती है।'

सार्वजनिक आय का वर्गीकरण– सार्वजनिक आय के प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं–

(1) प्रो. एडम स्मिथ का वर्गीकरण– प्रो. एडम स्मिथ ने सार्वजनिक आय को दो भागों में विभाजित किया है–

(i) राजकीय सम्पत्ति से प्राप्त आय– इसके अन्तर्गत सरकारी भूमि, खानों, बागानों इत्यादि से प्राप्त होने वाली आय का समावेश होता है। विस्तृत अर्थ में सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त आय भी इसमें शामिल होती है।

(ii) नागरिकों से प्राप्त होने वाली आय– इसके अन्तर्गत यह आय शामिल करते हैं जिसे नागरिकों से किया जाता है। इसके करों से प्राप्त आय अधिक महत्वपूर्ण है।

(2) प्रो. एडम्स का वर्गीकरण– प्रो. एडम ने लोक आय को तीन वर्गों में विभाजित किया है–

(i) प्रत्यक्ष आय– इसके अन्तर्गत सार्वजनिक उद्योगों, उपहारों, क्षतिपूर्ति, अधिहरण आदि से प्राप्त आय का समावेश होता है।

(ii) व्युत्पादित आय– इसके अन्तर्गत उस आय को शामिल किया जाता है जिसे करों, शुल्क, जुर्माना आदि के रूप में लोगों से वसूल किया जाता है।

(iii) प्रत्याशित आय– इसके अन्तर्गत वह आय आती है जो सरकार को ऋणपत्रों एवं कोषागार विपत्रों से प्राप्त होती है।

(3) **प्रो. सैलिगमैन का वर्गीकरण–** प्रो.सैलिगमैन ने सार्वजनिक आय का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है, जो निम्न प्रकार है–

(i) निःशुल्क आय– इसके अन्तर्गत ऐसे दान और उपहारों को शामिल किया जाता है जिन्हें प्राप्त करने के लिये सरकार को कुछ व्यय नहीं करना पड़ता तथा सरकार को ऐसी आय जनता से बिना माँगे ही प्राप्त हो जाती है। उदाहरण के लिये, विदेशों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सरकार को प्राप्त अनुदान एवं उपहार। लेकिन आजकल सार्वजनिक आय में उक्त आय का महत्व नगण्य है।

(ii) अनुबन्धात्मक आय– इसके अन्तर्गत ऐसी आय का समावेश होता है जो सरकार को अपनी व्यावसायिक क्रियाओं से प्राप्त होती है, जैसे– रेल, डाक–तार तथा विभिन्न सरकारी उद्यमों से प्राप्त होने वाली आय। यह आय उन्हीं लोगों से वसूल की जाती है जो सार्वजनिक उपक्रम की वस्तुओं अथवा सेवाओं को क्रय करते है। प्रो. सेलिगमैन ने इस आय को कीमत कहा है।

(iii) अनिवार्य आय– इसके अन्तर्गत करों, जुर्माना, शुल्क एवं विशेष कर–निर्धारण आदि से प्राप्त होने वाली आय का समावेश होता है। इसे अनिवार्य आय इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इसका देना लोगों की इच्छा पर निर्भर नहीं रहता वरन् उन्हें अनिवार्य रूप से इसका भुगतान करना पड़ता है।

(4) **प्रो. डॉल्टन का वर्गीकरण–** प्रो. डाल्टन की आय का वर्गीकरण का आधार यह है कि आय को किस स्रोत से प्राप्त किया जाता है। यह वर्गीकरण निम्न प्रकार है–

(i) कर– इसके अन्तर्गत यह आय आती है जो सरकार को अनिवार्य भुगतान के रूप में प्राप्त होती है तथा इसमें चार प्रकार की आय को शामिल किया जाता है–

(A) करों के रूप में प्राप्त आय,
(B) उपहार और क्षतिपूर्ति से प्राप्त आय
(C) अनिवार्य रूप से लिये जाने वाले ऋण, तथा
(D) न्यायालयों द्वारा दिये जाने वाले अर्थदण्ड से प्राप्त आय।

(ii) कीमतें अथवा व्यावसायिक आय– इसके अन्तर्गत यह आय शामिल होती है जो सरकार को वस्तुओं और सेवाओं के विक्रय से प्राप्त होती है। डाल्टन ने इस आय को चार उपवर्गों में विभाजित किया है–

(A) सार्वजनिक सम्पत्ति जैसे, वनों एवं सरकारी भूमि से प्राप्त आय,
(B) सरकार द्वारा संचालित उद्योगों से प्राप्त आय
(C) सेवाओं के लिये प्राप्त भुगतान जैसे, फीस, शुल्क, इत्यादि, एवं
(D) सरकारी ऋणों से प्राप्त आय।

(iii) अन्य आय– इस वर्ग में आने वाली आय को भी डाल्टन ने चार भागों में विभाजित किया है–

(A) एकाधिकारी शक्ति प्राप्त सरकारी उद्योगों से प्राप्त आय
(B) विशेष कर–निर्धारण से प्राप्त आय

(C) नई पत्र–मुद्रा जारी करने से प्राप्त आय (केवल सरकार को ही पत्र–मुद्रा जारी करने का अधिकार है)
(D) ऐच्छिक रूप से प्राप्त उपहार।

(5) **प्रो. वैस्टेवल का वर्गीकरण–** प्रो. वैस्टेवल ने सार्वजनिक आय को निम्न दो प्रकार से वर्गीकृत किया है–

(i) वस्तुओं और सेवाओं से प्राप्त आय– इसमें वह आय शामिल होती है जो सरकार को एक सर्वमान्य बड़ी इकाई होने के नाते, वस्तुओं और सेवाओं के प्रदान करने से होती है। इसमें न्यायालयीन सेवाओं से प्राप्त आय भी शामिल है।

(ii) करों से प्राप्त आय– इसके अन्तर्गत वह आय शामिल होती है जो सरकार को करों तथा जुर्माना के फलस्वरूप प्राप्त होती है।

उपर्युक्त वर्गीकरण स्पष्ट नहीं है क्योंकि इसके अनुसार सार्वजनिक आय को सही रूप में विभाजित नहीं किया जा सकता।

(6) **प्रो. टेलर का वर्गीकरण–** प्रो. टेलर ने आय का जो वर्गीकरण किया है, वह तर्कपूर्ण तथा वैज्ञानिक है। उन्होंने सार्वजनिक आय को निम्न चार भागों में विभाजित किया है–

(i) अनुदान एवं उपहार– अनुदान के अन्तर्गत ऐसी आय का समावेश होता है जो एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार को किसी विशेष कार्य के लिये वित्तीय सहायता के रूप में दी जाती है। जैसे– केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को दिया जाने वाला अनुदान। उपहार के अन्तर्गत ऐसे ऐच्छिक अंशदान आते हैं जो सरकार को व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से प्राप्त होते हैं। ये उपहार प्रायः प्राकृतिक संकट या राहत कार्यों के लिये दिये जाते हैं।

(ii) प्रशासनिक आय– इसके अन्तर्गत सरकार को प्राप्त होने वाली आय का समावेश होता है जो शुल्क, लाइसेंस, जुर्माना, अधिहरण, विशेष कर–निर्धारण, उत्तराधिकारी के अभाव में सम्पत्ति पर अधिकार आदि से प्राप्त होती है।

(iii) प्रशासनिक आय– इसके अन्तर्गत सरकार को प्राप्त होने वाली आय का समावेश होता है जो शुल्क, लाइसेंस, जुर्माना, अधिहरण, विशेष कर–निर्धारण, उत्तराधिकारी के अभाव में सम्पत्ति पर अधिकार आदि से प्राप्त होती है।

(iv) कर– करों के अन्तर्गत सरकार को लोगों से प्राप्त होने वाले ऐसे अनिवार्य भुगतान शामिल होते हैं जिनके बदले लोगों को सरकार से प्रत्यक्ष लाभ की कोई गारन्टी नहीं होती।

(7) **प्रो. फिण्डले शिराज का वर्गीकरण–** प्रो. फिण्डले शिराज ने सार्वजनिक आय को दो प्रकार से वर्गीकृत किया है–

(i) करों से प्राप्त आय– इसमें कर, विशेष कर–निर्धारण एवं फीस से प्राप्त आय का समावेश होता है।

(ii) गैर–कर आय– करों के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से प्राप्त होने वाली आय को गैरकर आय में शामिल किया जाता है। जैसे– सार्वजनिक उद्योग, रेलवे, सामाजिक

सेवाओं (शिक्षा, चिकित्सा आदि) ऋण पर ब्याज तथा अन्य गैर कर स्रोतों से प्राप्त आय का समावेश होता है।

प्रश्न–7. भारतीय कर–प्रणाली की प्रमुख विशेषतायें बतलाते हुये इसके दोषों की चर्चा कीजिये एवं सुधार के लिये सुझाव दीजिये।

अथवा

भारतीय कर–प्रणाली की क्या विशेषतायें हैं? क्या भारत की कर–प्रणाली सन्तोषजनक है? आप इसमें सुधार हेतु कौन से सुझाव देंगे?

अथवा

भारतीय कर ढांचे की प्रमुख विशेषताओं की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

अथवा

वर्तमान भारतीय कर–प्रणाली के प्रमुख दोष क्या हैं? आप इन्हें कैसे दूर करेंगे?

अथवा

भारतीय कर संरचना की प्रमुख विशेषतायें क्या हैं? व्याख्या कीजिये।

उत्तर– भारतीय कर–प्रणाली के मुख्य लक्षण या विशेषतायें– भारतीय कर–प्रणाली को अच्छी प्रणाली माना जा सकता है, क्योंकि इसमें निम्नलिखित बातें पायी जाती हैं–

(1) **करारोपण के सिद्धान्तों के अनुकूल–** भारतीय कर–प्रणाली करारोपण के सिद्धान्तों के अनुकूल है और इसमें वे सभी बातें पायी जाती हैं, जो एक अच्छी करारोपण प्रणाली में पायी जानी चाहिये।

(2) **करदाता की सुविधा–** कर–प्रणाली में करदाता की सुविधाओं का भी ध्यान रखा गया है। भारतीय कर–प्रणाली दिन–प्रतिदिन उत्पादक भी होती जा रही है।

(3) **आयकर की दरों में कमी–** वांचू समिति के सुझावों को मानते हुये सरकार ने आयकर की दरें 97.75% से घटाकर 78% कर दी हैं जिससे कर–प्रणाली को अधिक उपयोगी बनाया जा सके। वर्तमान में 1985 के बजट के अनुसार आयकर की अधिकतम दरें 50% कर दी गयी हैं।

(4) **अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा परोक्ष करों का अधिक भाग–** भारत में प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा सरकार का ध्यान परोक्ष करों की ओर अधिक है। इससे करों का क्षेत्र व्यापक हो जाता है और सरकार को भी अच्छी आय प्राप्त हो जाती है।

(5) **बहुकर–प्रणाली–** भारत में बहुकर–प्रणाली को साकार रूप प्रदान किया गया है। इसमें कुछ कर ऐसे हैं जो आय की असमानता को दूर करने के साथ–साथ सरकार की आय का मुख्य स्त्रोत भी है।

(6) **करारोपण का विस्तृत क्षेत्र–** समाज के हर वर्ग पर करारोपण का प्रभाव पड़े, इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रतिवर्ष उत्पादन–शुल्कों में वृद्धि की जाती रही है, जिससे करारोपण का भार धनी–वर्ग पर अधिक पड़े।

(7) **अधिकतम सामाजिक लाभ–** कर का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्रदान करना है जिससे करारोपण का बचत करने व कार्य करने की योग्यता व इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

(8) **समाजवादी करारोपण–** सरकार ने समाजवादी समाज की सरकार बनाने की चेष्टा की तथा उसी आधार पर देश की कर–व्यवस्था को ढाला गया।

(9) **आय प्राप्ति का मुख्य साधन–** गैर कर साधनों की अपेक्षा कर साधनों से केन्द्र व राज्य सरकारों को पर्याप्त आय प्राप्त होने लगी है जिससे कर–प्रणाली में उत्पादकता का गुण पाया जाता है।

आर्थिक आयोजन कार्यक्रम प्रारम्भ होने के साथ ही संघ तथा राज्य सरकारों ने अपनी कर नीति में आवश्यक परिवर्तन करने आरम्भ कर दिये।

भारतीय कर–प्रणाली के दोष– भारतीय कर–प्रणाली में निम्नलिखित दोष हैं–

(1) **क्रमिक, समन्वित एवं वैज्ञानिक विकास का अभाव–** भारतीय कर–प्रणाली बहुत ही छितरी हुई है अर्थात् इसका विकास समन्वित, क्रमिक,एवं वैज्ञानिक ढंग से नहीं हो पाया है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि देश एक दीर्घ अवधि तक परतन्त्र रहा। अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में कर–प्रणाली का वैज्ञानिक आधार पर विकास करने का प्रयत्न नहीं किया। वे तो अधिकाधिक आय प्राप्त करने मात्र के उद्देश्य से कर–प्रणाली को विकसित करने में लीन रहे। उन्होंने विभिन्न करों के भार तथा उत्पादन, वितरण और उपभोग पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर ध्यान नहीं दिया। यही कारण है कि विभिन्न करों में न तो समन्वय ही है और न वे एक–दूसरे के पूरक ही हैं।

(2) **प्रतिगामी कर–प्रणाली–** हमारी कर–प्रणाली प्रतिगामी है। इसका अधिकतर भार गरीब जनता पर पड़ता है। धनिकों पर यह भार अपेक्षतः कम है। इससे धन की असमानता में कमी नहीं होने पाई है। कुछ प्रत्यक्ष करों को छोड़कर शेष सब कर प्रतिगामी हैं। **प्रो. के.टी.शाह** के अनुसार, 'धनी वर्ग पर अपेक्षाकृत कम भार हैं, यद्यपि उनकी कर–भार सहन करने की शक्ति बहुत अधिक है, जबकि निर्धन व्यक्तियों को कम–भार में कर का भार सहन करना पड़ता है, यद्यपि उनकी भार सहन करने की शक्ति भेड़ के बच्चे से भी कम है।'

(3) **लोच का अभाव–** भारतीय कर–प्रणाली का तीसरा दोष यह है कि इससे प्राप्त होने वाली आय देश की वर्तमान आवश्यकताओं को देखते हुये बहुत कम है और विकास के लक्ष्यों के लिये अपर्याप्त है। अधिकांश कर बेलोच है, इससे विकास कार्यक्रमों में वित्तीय बाधायें पड़ रही हैं।

(4) **करों से बचने का अवसर–** भारतीय कर–प्रणाली की व्यवस्था दोषपूर्ण है। करों की वसूली दोषपूर्ण ढंग से की जाती है। इससे करदाताओं द्वारा कर को बचाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है तथा उन्हें ईमानदारी से कर चुकाने का प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। **प्रो. केन्डौर** के अनुमान के अनुसार, लगभग 200–300 करोड़ रुपये की प्रतिवर्ष चोरी होती है।

(5) **प्रत्यक्ष करों का अनुपात कम होना–** भारतीय कर–प्रणाली में अप्रत्यक्ष करों का बाहुल्य है। अधिकांश आय सरकार को अप्रत्यक्ष करों से ही प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष करों में कुल आय का केवल एक–चौथाई भाग ही प्राप्त होता है, जबकि विदेशों में इससे बहुत अधिक आय प्राप्त होती है। कर जांच आयोग के अनुसार, अमेरिका में 88 प्रतिशत, जापान में 70 प्रतिशत, कनाडा में 61 प्रतिशत व इंग्लैण्ड में 55 प्रतिशत प्राप्त होता है, किन्तु भारत में यह प्रतिशत केवल 34 है।

(6) अन्य देशों की तुलना में कर–प्रतिशत कम होना– भारत में विभिन्न करों द्वारा राष्ट्रीय आय का केवल 10 प्रतिशत प्राप्त होता है, लेकिन इंग्लैण्ड में यह प्रतिशत 35, आस्ट्रेलिया मे 22 व अमेरिका मे 23 है। इसमें कुछ विद्वानो का यह कहना है कि भारत में अतिरिक्त करारोपण के लिये अभी पर्याप्त क्षेत्र है।

(7) देश के कम व्यक्तियों द्वारा कर का भुगतान– नियोजन आयोग के अनुसार, हमारी कर–प्रणाली का एक दोष यह भी है कि केवल बहुत थोड़े से व्यक्तियों को कर–भुगतान करना पड़ता है। प्रत्यक्ष कर देश की कार्यशील शक्ति के केवल 1 प्रतिशत को ही छूते हैं।

(8) कर आय का प्रयोग अनुत्पादक कार्यों में– भारत में कर–व्यवस्था के दोषों को सार्वजनिक व्यय द्वारा भी दूर नहीं किया जा सकता। अधिकांश आय नागरिक प्रशासन और सुरक्षा पर व्यय हो जाती है और राष्ट्रीय निर्माण सेवाओं पर बहुत कम खर्च किया जाता है। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय से भी हमारी कर–प्रणाली के दोषों से उत्पन्न होने वाली क्षति की पूर्ति नहीं होती।

(9) करों के हानिकारक प्रभाव– वित्तीय योजना के समय में जो कर लगाये गये हैं, उनका विनियोजन पर विपरीत प्रभाव पड़ा है और पूँजी–संचय तथा आर्थिक विकास में बाधा पड़ी है। इन करों का द्राव्यिक भार तो बहुत अधिक नहीं, परन्तु विनियोक्ताओं व व्यापारी वर्ग पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा है। युद्ध या संकट के समय तो प्रत्येक वर्ग अधिक कर देने को बुरा नहीं समझता, परन्तु सामान्य दशाओं में करों की मात्रा में वृद्धि तथा सीमा पर करों की ऊँची प्रगतिशीलता से व्यापारी व उत्पादक यह सोचने लगते हैं कि उन पर कर का भार अधिक है।

(10) सिद्धान्तों का अभाव– भारतीय कर–प्रणाली करारोपण के सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है। जैसे– कर–प्रणाली में निश्चितता व कर–दान– सामर्थ्य सिद्धान्तों का अभाव पाया जाता है।

(11) करों की उच्च दर– भारतीय कर–प्रणाली का एक महत्वपूर्ण दोष यह है कि इसके अन्तर्गत अधिक ऊँची दर से कर लगाया जाता है। कुछ दशाओं में तो कर की दर 100% से भी अधिक हो जाती है। इतनी अधिक उच्च दर से कर लगाना उचित नहीं है।

(12) अमितव्ययी– हमारी कर–प्रणाली अमितव्ययी है, क्योंकि गत छः वर्षों में हमने जो कर लगाये हैं, उनसे प्राप्त होने वाली आय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है, परन्तु कर–संग्रह करने के व्यय में अवश्य वृद्धि हो गयी है।

ए.एन.ए. पालकीवाला के मतानुसार, हमारी कर–व्यवस्था में निम्नलिखित पाँच कमजोरियाँ या दोष हैं–

(1) अनिश्चितता– कानूनों एवं कर–दरों में परिवर्तन जिनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता कि वे कब बदल जायें?

(2) मिश्रित व्यवस्था।

(3) सीमा से अधिक करों का बोझ– जिससे बचने के लिये ईमानदारी एवं सच्चाई को छोड़कर गलत तरीकों को अपनाना पड़ता है।

(4) दोषयुक्त एवं पक्षपातपूर्ण न्याय, जिनका कर–सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(5) अपंग, निष्ठुर एवं स्वार्थी शासन–व्यवस्था।

कर–प्रणाली में सुधार के लिये सुझाव

(1) **अधिक प्रत्यक्ष कर–** परोक्ष करों की जगह प्रत्यक्ष करों, जैसे– उत्तराधिकारी कर, कृषि आय कर, सम्पत्ति–पूँजी–लाभ आदि पर अधिक प्रगतिशील दर से कर लगाना चाहिये।

(2) **प्रतिगामी प्रकृति की समाप्ति–** आवश्यक वस्तुओं पर कम से कम कर लगाना चाहिये तथा विलासिता की वस्तुओं पर अधिकाधिक मात्रा में कर लगाना चाहिये।

(3) **सुदृढ़ कर–प्रशासन–** करों की चोरी को दूर करने के लिये कर–व्यवस्था को अधिक कार्यकुशल और बुद्धिमत्तापूर्ण बनाया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में कर–प्रशासन में अस्थिरता नहीं आने देनी चाहिये।

(4) **प्रेरणादायक कर–प्रणाली–** कर–प्रणाली को नये सिरे से इस रूप में ढालना चाहिये कि वह उत्पादन और बचत के लिये प्रेरणादायक सिद्ध हो। इसके लिये जिन लाभों को पूर्ण नियोजित किया जाता है, उन पर करारोपण कम से कम दर से होना चाहिये।

(5) **राष्ट्रीय आय के साथ वृद्धि–** करों के ढाँचे में इस तरह परिवर्तन करना चाहिये कि करों से प्राप्त होने वाली आय में राष्ट्रीय आय के साथ ही साथ समुचित रूप से वृद्धि हो सके।

(6) **उपभोग पर रोक–** कर–प्रणाली में इस प्रकार परिवर्तन करना चाहिये कि मुद्रा–स्फीति की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित किया जा सके और विनियोग के लिये प्रभावशाली साधन प्राप्त किये जा सकें। इसके लिये यह आवश्यक है कि विस्तृत क्षेत्र के उपभोग पर वांछित रोक लगाई जाये।

(7) **प्रभाव का अध्ययन–** करारोपण करते समय और नवीन कर लगाते समय इस बात पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिये कि भार का उत्पादन और उपभोग पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

प्रश्न–8. 'करदेय क्षमता' से आप क्या समझते हैं? उन तत्वों की विवेचना कीजिये जो किसी देश की करदान क्षमता को निर्धारित करते हैं।

अथवा

करदान क्षमता के विचार को परिभाषित कीजिये। जनता की करदान क्षमता को प्रभावित करने वाले घटकों की व्याख्या कीजिये।

अथवा

'सापेक्ष करदान क्षमता एक वास्तविकता है, जबकि निरपेक्ष करदान क्षमता एक भ्रम है।' टिप्पणी कीजिये।

अथवा

'करदान क्षमता एक गन्दा तथा अस्पष्ट विचार है।' इस कथन की सत्यता का परीक्षण कीजिये।

उत्तर– करदान क्षमता से तात्पर्य समाज की उस सामर्थ्य से है जब समाज किसी विशिष्ट समय पर बिना कार्य क्षमता ह्रास के सरकार को कुछ देने की स्थिति में होता है।

सिद्धान्त: देश के प्रत्येक नागरिक को कुछ न कुछ कर सरकार को अवश्य देना चाहिये तथापि समाज के विभिन्न व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार सरकार को कितना कर दें ताकि आनुपातिक रूप से सबको समान देना पड़े तथा समाज की ओर समान त्याग के आधार पर सरकार को भी अधिक से अधिक प्राप्त हो सके। करदान क्षमता से अधिक करारोपण समाज के लिये हानिकारक होगा। अत: करदान क्षमता का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। करदान क्षमता जानने से किसी देश का कर-आधार सुदृढ़ किया जा सकता है क्योंकि ऐसी स्थिति में न तो करदाताओं की शिकायत होगी और न ही कर-चोरी होगी। सरकार को आय भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जावेगी।

करदान या करदेय क्षमता की परिभाषायें तथा वर्गीकरण– प्रो. मुसग्रेव का मत है कि करदान क्षमता समाज द्वारा वहन किये गये त्याग से सम्बन्धित रहती है। **प्रो. किन्डले शिराज** ने कहा है कि– "करदान क्षमता निर्धनता की सीमा है। वह न्यूनतम उपयोग के ऊपर उत्पादन का कुल आधिक्य है, जो जीवन-स्तर को प्रभावित किये बिना उतने ही उत्पादन करने के लिये आवश्यक है।"

किन्तु यहाँ न्यूनतम स्तर से क्या तात्पर्य होगा? जीवन-स्तर भी प्रभावित नहीं होता फिर कर लेकर वे सार्वजनिक व्यय के रूप में फिर से जनता के पास पहुचते है उस पक्ष का ध्यान भी नहीं रखा गया है।

प्रो. ऐलिन्जर ने करदान क्षमता को परिभाषित करते हुये कहा है कि– "करदान क्षमता वह सीमा होगी, जबकि करदाताओं से इतना कर वसूल कर लिया जावे कि उत्पादन-प्रेरणा घट जावे तथा बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये नवीन कार्यों के लिये आवश्यक पूँजी प्राप्त करने में कठिनाई उत्पन्न हो।"

इस परिभाषा में भी आवश्यक पूँजी को स्पष्ट नहीं किया गया है कि उत्पादन प्रेरणा बनाये रखने के लिए कितनी पूँजी आवश्यक होगी। दूसरे सार्वजनिक व्यय की उपेक्षा भी की गई है। उसका प्रभाव भी उत्पादन के लिये अच्छा हो सकता है।

प्रो. सर डी. ब्रेडर ने करदान क्षमता को कुछ अलग प्रकार से ही बतलाया है कि– "करदान क्षमता वह सीमा है जबकि करदाताओं को कर देने के लिये बैंकों से ऋण लेने के लिये बाध्य होना पड़े।"

परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है क्योंकि व्यापारी वर्ग तो पग-पग पर व्यापार के लिये ऋण लेता है अत: वह कितना कर देने के लिये ले रहा है। निश्चित नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से इस वर्ग की करदान क्षमता की सीमा का पता लगाना कठिन है।

प्रो. कोलिन क्लार्क ने करदान क्षमता की सीमा को राष्ट्रीय आय का 25 प्रतिशत माना है अर्थात् इस सुरक्षित सीमा तक कर लिये जाना चाहिये। प्रो. मेसन ने करदान क्षमता की सीमा को उत्पादन सीमाओं से जोड़ा है अर्थात् "उत्पादन रुक जाना करदान क्षमता की सीमा है।" किन्तु उत्पादन अन्य कारणों से भी रुक सकता है।

प्रो. सर जोसिया स्टैम्प ने करदान क्षमता के बारे में कहा है कि– "करदान क्षमता कुल उपभोग पर कुल उत्पादन का आधिक्य है। यह वह अधिकतम राशि होती है जोकि देश के

नागरिकों को बिना आनन्दरहित तथा फटेहाल जीवन बिताये और आर्थिक संगठन को अस्त-व्यस्त किये बिना ही राजकीय अधिकारियों के व्यय हेतु अंशदान करते हैं।"

इस परिभाषा में फटेहाल जीवन और आनन्दपूर्ण जीवन की व्याख्या इस विचार को मनोवैज्ञानिक बना देती है। व्यक्ति की मानसिक स्थितियों का पता लगाना कठिन होता है।

भारतीय अर्थशास्त्री डा. आर.एन. भार्गव ने इसके बारे में कहा है कि– "करारोपण एवं सार्वजनिक व्यय की सीमा को सार्वजनिक वित्त का आदर्श कहा जाना चाहिये।"

परन्तु इस कथन में भी त्याग तथा उपयोगिता जैसे मनोवैज्ञानिक तथ्यों को लाकर मापक आधार की कठिनाई पैदा कर दी गई है। भारतीय कर जाँच समिति ने भी करदान क्षमता को उत्पादन में कमी की दृष्टि से देखा है। "समाज के विभिन्न वर्गों की करदान क्षमता उनके कर देने की उन क्षमताओं से सूचित होती है जहाँ पर उत्पादन प्रयास एवं कुशलता कम होने लगती है।" परन्तु प्रशासनिक व्यवस्थाओं के कारण यह परिभाषा सीमित तथा संकुचित हो जाती है। डॉ. डाल्टन ने करदान क्षमता को 2 वर्गों में बाँट कर अध्ययन करने का सुझाव दिया है– (1) निरपेक्ष करदान क्षमता, (2) सापेक्ष करदान क्षमता।

निरपेक्ष करदान क्षमता के सम्बन्ध में प्रो. जे.के. मेहता ने कहा है कि– "एक देश की निरपेक्ष करदान क्षमता को मुद्रा की उस अधिकतम राशि से मापा जा सकता है जोकि करारोपण द्वारा प्राप्त की जा सकती है।" डा. डाल्टन निरपेक्ष करदान क्षमता को एक कल्पना मानते है जिसका राजस्व के अध्ययन में महत्व नहीं होना चाहिये और उसे राजस्व के अध्ययन से बाहर कर देने तक का सुझाव उन्होंने दिया है।

उनके शब्दों में– "मेरा साधारण निष्कर्ष यह है कि सापेक्ष करदान क्षमता एक सत्य है जो कि उचित शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, परन्तु निरपेक्ष करदान क्षमता एक कल्पना है, जिससे भयंकर भूल होने की सम्भावना बनी रहती है। अत: राजस्व के अध्ययन से इसे बाहर निकाल दिया जाना चाहिये।"

निरपेक्ष करदान क्षमता देश की राष्ट्रीय आय पर निर्भर करती है। देश में पूँजीगत ह्रास के बाद जो बचता है, उसी पर निरपेक्ष करदान क्षमता निर्भर होगी। निरपेक्ष करदान क्षमता कर लेने की अन्तिम सीमा होती है। जबकि सापेक्ष करदान क्षमता दो देश या समुदायों की कर देने की सामर्थ्य बतलाती है।

प्रो. मेहता का विचार है कि सापेक्ष करदान क्षमता में उस करदान क्षमता को निश्चित किया जाता है जिसे विभिन्न राज्यों में बाँटा जाता है। डा. डाल्टन का मत है कि सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के साथ-साथ धनी वर्ग के करदान अंश में भी वृद्धि होनी चाहिये। समाज की सापेक्षिक करदान क्षमता विभिन्न घटनाओं द्वारा प्रभावित होती है।

इसलिये "एक नासमझी नीति द्वारा मनुष्यों की जेब से धन एकत्रित हो सकता है, परन्तु एक निश्चित सीमा से अधिक राज्य द्वारा कर लगाने में उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों पर ध्यान देना होगा।" डॉ. डाल्टन ने इसे कर की अधिकतम अन्तिम और सर्वोत्तम सीमा कहा है जो कि समाज के अधिकतम कल्याण में प्रयुक्त की जा सकती है। उपर्युक्त विवेचन से करदान क्षमता के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है–

(i) करदान क्षमता के 2 रूप हो सकते है– पूर्ण तथा सापेक्ष करदान क्षमता।

(ii) करारोपण की अधिकतम सीमा निश्चित करने में पूर्ण करदान क्षमता तथा करभार के न्यायसंगत वितरण के लिये सापेक्ष करदान क्षमता आवश्यक है।

(iii) करदान क्षमता के अनुसार कर लगाने का तात्पर्य यह नही है कि सरकार व्यक्तियों की सम्पूर्ण करदेय क्षमता समाप्त कर देगी अपितु यह है कि सरकार इस अधिकतम सीमा के अन्तर्गत ही कर लगायेगी।

(iv) यदि कोई समुदाय अपनी सापेक्ष करदान क्षमता के अनुसार कर देता है तब इसका तात्पर्य यह नही है कि वह अपनी पूर्ण करदेयता के आधार पर कर दे रहा है। इसी प्रकार वह अपनी पूर्ण करदान क्षमता से अधिक कर दे रहा है तब इसका तात्पर्य भी यह नहीं कि वह अपनी सापेक्ष करदेयता से अधिक कर दे रहा है।

करदान क्षमता का महत्व–

(1) करदान क्षमता का पता लगाने की आवश्यकता यह जानने के लिये हो सकती है कि युद्ध जैसी असाधारण परिस्थिति में लोगों से कितना धन लेकर वित्तीय व्यवस्था की जा सकती है।

(2) करदेय क्षमता की जानकारी से आर्थिक विकास तथा नियोजन के लिये आर्थिक साधनों की गतिशीलता की सीमायें तय की जा सकती हैं।

(3) यह सरकार को उत्पादन तथा उपभोग पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले करों को लगाने से रोक सकती है।

(4) किसी संघीय देश में विभिन्न राज्यों के बीच आय-स्त्रोतों का विभाजन या करभार वहाँ की करदेय क्षमता पर किया जा सकता है।

(5) इसके द्वारा केन्द्र सरकार अपने साधनों को विभिन्न राज्यों को देश की सन्तुलित व्यवस्था बनाये रखने के अनुरूप बाँट सकती है।

करदान क्षमता को निर्धारित करने वाले तत्व या घटक– किसी देश की करदान क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि वहाँ का सामाजिक, आर्थिक ढाँचा किस प्रकार का है। वैसे करदान क्षमता का सम्बन्ध व्यक्ति के मनोविज्ञान पर भी निर्भर करता है। विभिन्न घटक इसे निम्नप्रकार प्रभावित करते हैं–

(1) **देश की जनसंख्या का आकार–** सामान्यतया यदि देश की जनसंख्या अधिक है तो करदेय क्षमता अधिक होगी। किन्तु कुछ परिस्थितियाँ इसे विपरीत रूप से प्रभावित कर सकती हैं। जैसे- यदि जनसंख्या में बच्चों, वृद्धों जैसी अकार्यशील जनसंख्या की अधिकता है तब करदान क्षमता अधिक नहीं होगी। इसके साथ ही राष्ट्रीय आय में जनसंख्या- वृद्धि की तुलना में किस तेजी से वृद्धि हो रही है, उसी के अनुसार करदान क्षमता भी बढ़ेगी। यदि राष्ट्रीय आय की तुलना में जनसंख्या अधिक बढ़ रही है तब यह क्षमता कम हो जावेगी।

(2) **राष्ट्रीय आय और धन का वितरण–** यदि राष्ट्रीय आय तो अधिक हो किन्तु धन का वितरण असमान हो तब करदान क्षमता अधिक होगी। किन्तु धन का वितरण समान होने पर यह कम होगी। इसका तर्क यह है कि असमान वितरण होने पर थोड़े से धनी लोगों पर अधिक कर लगाकर अधिक धन एकत्र होगा, जबकि वसूली-खर्च कम होगा। निर्धन लोग वैसे ही करमुक्त रहेंगे तथापि इसके सम्बन्ध में एक विपरीत मत यह भी है कि यदि धन का वितरण समान किया जाता है तो अधिक लोगों की कार्य क्षमता बढ़ेगी। उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी

और करदान क्षमता बढ़ेगी। दूसरे करदान क्षमता अधिक करने के लिये धन का असमान वितरण रखना भी अनैतिक होगा।

(3) **करारोपण का उद्देश्य–** यदि करारोपण जनकल्याण के लिये या सामूहिक भलाई के लिये किया जाता है तब लोग अधिक कर देने के लिये मानसिक रूप से तैयार होंगे जबकि फिजूलखर्ची पर ऐसा नहीं होगा। युद्ध, अकाल सहायता, शिक्षा, सफाई आदि के लिये करारोपण क्षमता में वृद्धि करता है जबकि अधिकारियों के वेतन व भत्ते देने के लिये, विदेशी सहायता आदि के लिये आरोपित करों से क्षमतायें कम होती हैं।

(4) **कर–प्रणाली–** यदि कर-प्रणाली के अन्तर्गत सम्पूर्ण जनसंख्या आ जाती है तब करदेय क्षमता अधिक होगी। दूसरे नागरिकों में कर देने सम्बन्धी वैमनस्य नहीं होगा जबकि वर्ग विशेष पर आरोपित करों के कारण करदान क्षमता कम हो जावेगी।

(5) **गैर मौद्रिक अर्थव्यवस्था की उपस्थिति–** यदि किसी देश में उद्योग, व्यापार वस्तु-विनिमय द्वारा सम्पादित होता है तब करारोपण की सम्भावनायें कम हो जाती है। उदाहरण के लिये, अन्न के रूप में आय प्राप्तकर्त्ताओं पर आयकर या बिक्रीकर आरोपित करना सम्भव नहीं है। भारत जैसे देश में ऐसा अमौद्रिक बाजार है, अतः करदान क्षमता कम होना स्वाभाविक है। उपज का बड़ा भाग उपभोग या मजदूरी चुकाने के लिये प्रयुक्त होने के कारण करारोपण का प्रभाव निष्क्रिय हो जाता है जिससे करदान क्षमता कम हो जाती है।

(6) **आय की स्थिरता–** स्थिर आय के साथ करदान क्षमता अधिक होती है इसीलिये कृषि-प्रधान देशों की तुलना में औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों की करदान क्षमता अधिक होती है जबकि कृषि-प्रधान जैसे भारत देश में आय मानसून की सफलता पर निर्भर है इसीलिये यहाँ आय अनिश्चित है और करदान क्षमता कम है।

(7) **सार्वजनिक व्यय की प्रकृति–** रचनात्मक, निर्माणकारी तथा कल्याणकारी सार्वजनिक व्यय कार्य करने की शक्ति में वृद्धि करते हैं जिससे उत्पादन और आय बढ़ती है जबकि अनुत्पादक व्ययों से आय में कमी आती है। कृषि, उद्योग, रोजगार में वृद्धि करने वाले व्यय करदान क्षमता को बढ़ा देते हैं।

(8) **देश की आर्थिक स्थिति–** मुद्रा-प्रसार की स्थिति में, व्यापार-चक्र के समृद्धिकाल में जबकि उत्पादक ऊंचे लाभ कमा रहे होते हैं, करदान क्षमता अधिक होती है। इसके विपरीत मन्दीकाल में जब रोजगार बन्द, उद्योग बन्द की स्थिति में आ जाते हैं, करदान क्षमता कम हो जाती है। अतः अर्थव्यवस्था की स्थिति पर भी करदान क्षमता निर्भर करती है।

(9) **प्रशासनिक कार्यकुशलता–** यदि कर एकत्र करने वाली प्रशासनिक इकाई ईमानदार, मेहनती है तब अधिक कर वसूल होगा। उनकी दक्षता से कर चोरी या वंचन में कमी आवेगी। कर वसूली में समान कार्यविधि करदान क्षमता को बढ़ाती है जबकि भ्रष्टाचार और अकुशलता से करवंचन होता है और करदेय क्षमता में कमी आ जाती है। लोग कर दायित्व से बच निकलते हैं।

(10) **व्यक्तियों का जीवन-स्तर–** ऊंचा जीवन-स्तर एक ओर आय से निर्धारित होता है तथा दूसरी ओर उपभोग से। यदि व्यक्ति समुन्नत जीवन-स्तर रखेंगे तब अधिक वस्तुयें खरीदेंगे व अधिक कर देंगे। इससे करदान क्षमता अधिक होगी। दूसरे

इसके विपरीत सादा जीवन रखने वाले करदाताओं से कर वसूली की आशा नहीं की जा सकती। इसीलिये प्रो. कैल्डोर उपभोग व्यय को किसी व्यक्ति की करदेयता का सर्वोत्तम माप मानते है।

(11) **करदान की मनोवृत्ति–** करदान मनोवृत्ति करदेय क्षमता का सर्वोत्तम निर्धारक है। राष्ट्रीय भावनाओ के फलस्वरूप युद्ध की स्थिति मे करदाता कर के बोझ को महसूस नही करते। उस समय करदान क्षमता अपनी चरम सीमा पर होती है। वे एकमुश्त कर देने के साथ-साथ अपने दैनिक जीवन मे अनेक परोक्ष कर खुशी-खुशी देते है। यदि नागरिक जागरुक, राष्ट्रीय चरित्र वाले है तब वे अधिक मेहनत कर साहस और धन के प्रति उत्साहित होते है और अधिक कर देते है जबकि मनोवृत्ति में हीनता होने पर कर देय क्षमता मे कमी आती है।

(12) **राजनैतिक दशायें–** स्थिर प्रशासन और राजनैतिक दशाये देश में योजनाबद्ध विकास को प्रत्याभूति होते है। नागरिकों में ऐसी स्थिति मे विश्वास उत्पन्न होता है और उनकी करदेय क्षमता अधिक होती है जबकि अस्थिरता में करवचन, कर एकत्र न होना क्षमताओं को कम करते हैं। स्थिरता में नागरिकों में यह विश्वास होता है कि उनकी जेब से जिस कर को लिया जा रहा है वह उनके कल्याण पर ही व्यय किया जावेगा। इससे वे कर देने को प्रोत्साहित होते है और उनकी करदान क्षमता अधिक होती है। इसके विपरीत राजनैतिक दशा अस्थिर होने, देश में नियोजित विकास का अभाव होने पर धनी अधिक धनी तथा गरीब के अधिक गरीब होने पर करदान क्षमता में कमी आती है। देश की करदेय क्षमता का निर्धारण उत्पादन की उस विधि द्वारा होता है जो कि न्यूनतम उपभोग पर उत्पादन की अधिकता से निर्मित होती है।

प्रश्न–9. करारोपण में न्याय से आप क्या समझते हैं? इसे प्राप्त करने के विभिन्न सुझावों की व्याख्या कीजिये।

अथवा

करारोपण सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये। किसी व्यक्ति की करों के भुगतान करने की योग्यता का माप करते समय आप किन बातों का ध्यान रखेंगे?

अथवा

'भार-वितरण में समता या समानता, सामान्यतः कर-प्रणाली की महत्वपूर्ण कसौटी है।' व्याख्या कीजिये।

अथवा

'त्याग की समानता का सिद्धान्त अथवा आन्तरिक आर्थिक समानता द्वारा अधोगामी कर-प्रणाली की वैधता उसी प्रकार प्रभावित नहीं होती, जिस प्रकार आनुपातिक कर प्रणाली द्वारा बाह्य आर्थिक समानता प्रतिपादित नहीं की जा सकती।' डीमार्को के इस कथन की व्याख्या कीजिये।

उत्तर– करारोपण या करारोपण करते समय सरकार के सामने एक समस्या आती है कि कर न्यायपूर्ण हो अर्थात् कर किससे लिया जावे, कितना लिया जावे और कर लेने का आधार क्या हो, आदि बाते महत्वपूर्ण अर्थ रखती हैं। यदि करारोपण न्यायपूर्ण नहीं होगा तो सामूहिक कुल त्याग की मात्रा आवश्यकता से अधिक होगी, नागरिकों पर भार अधिक होगा और वे सरकार का विरोध करेंगे। इससे अर्थव्यवस्था की अस्त-व्यस्तता का खतरा उत्पन्न हो सकता है। अतः आवश्यक है कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से करारोपण के

वितरण में न्याय किया जावे। करारोपण में न्याय की समस्या पर समय-समय पर अर्थशास्त्रियों ने कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं जिनका विवेचन आवश्यक है–

(1) **वित्तीय सिद्धान्त–** करारोपण का प्राचीन सिद्धान्त है कि करों से अधिक से अधिक आय प्राप्त की जावे, अतः राज्य को व्यक्तियों पर उनकी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक आय प्राप्त करने के लिये कर लगाने चाहिये। फ्रांसीसी वित्तमंत्री हेनरी कल्बर्ट का कहना था कि 'बतख को इस प्रकार नोचो कि वह कम से कम शोर मचाये।' इसमें महत्वपूर्ण यह नहीं कि करों का भार किस प्रकार वितरित किया जावे अपितु महत्वपूर्ण है कि राज्य को अधिक से अधिक कर किस प्रकार प्राप्त हो। उसकी आय अधिकतम किस प्रकार हो।

स्पष्ट है कि कर वित्तीय सिद्धान्त पर लेने से नागरिकों पर काफी अन्याय होगा क्योंकि इस प्रणाली मे करों का भार प्रधानतः कमजोर और गरीब वर्ग पर होगा, जिनकी आवाज कमजोर है। धनी वर्ग अपना अपेक्षित भाग देने से बचा रहेगा। यह सिद्धान्त न्याय की समस्या को हल करने में सामर्थ्यवान् नहीं है। आज के प्रजातंत्रीय युग में करारोपण का यह सिद्धान्त अव्यावहारिक, पुराना तथा अवांछनीय है।

(2) **लाभ का सिद्धान्त–** लाभ के सिद्धान्त की व्याख्या ह्वब्स, लाक तथा रूसो के विचारों में मिलती है। इन लेखकों का मत है कि संगठित समाज का आधार प्रसविदा था जिसके अन्तर्गत राज्य अपने नागरिकों की सुरक्षा की गारंटी देता है। कर सरकार से प्राप्त इसी संरक्षण का मूल्य है। इसी प्रकार के विचार **विलियम पेट्टी** व **एडम स्मिथ** ने व्यक्त किये। उनके अनुसार, ''यह प्रायः सभी के द्वारा स्वीकार किया जाता है कि लोगों को सार्वजनिक शान्ति में प्राप्त अपने हिस्से एवं हित के अनुसार सार्वजनिक व्यय में योगदान करना चाहिये अर्थात् अपनी जमीन, जायदाद तथा सम्पत्ति के अनुसार।'' इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में मूल विचार को स्पष्ट करते हुये डिमार्को तथा एरिक लिंडाल ने लिखा है कि, ''राज्य को सामाजिक सेवाओं की पूर्ति उस सीमा तक करनी चाहिये जहाँ पर कि इन सेवाओं के प्रति व्यक्ति, कुल माँग और पूर्ति बराबर हो तथा इन सेवाओं की लागत समस्त व्यक्तियों द्वारा दी गई कीमत के बराबर हो।'' इसी प्रकार प्रो. एडम स्मिथ ने कहा है कि– ''एक बड़े राष्ट्र के निवासियों के लिये सरकार द्वारा किये जाने वाले खर्च लगभग वैसे ही होते हैं जैसे कि एक बड़ी जायदाद के उन संयुक्त किरायेदारों के प्रबन्ध संस्था के खर्चे, जो उस जायदाद में अपने-अपने हितों के अनुपात में अंशदान देने को बाध्य होते हैं।'' लिंडाल ने इसी की व्याख्या अपने 'ऐच्छिक विनिमय सिद्धान्त' में की है। लाभ के सिद्धान्त में करदान योग्यता का सिद्धान्त भी मिला हुआ प्रतीत होता है, फिर भी सिद्धान्त की व्यवहारिकता में सन्देह प्रकट किया जाता है। सिद्धान्त के निम्नलिखित दोष निकाले जाते हैं–

(i) करदाता तथा सरकार में 'जैसे को तैसा' का सम्बन्ध नहीं होता जिसके अन्तर्गत करदाता लाभ के अनुपात में करों का भुगतान करे।

(ii) राज्य करों से प्राप्त आय को सार्वजनिक हित में व्यय भी करता है अतः किसको, कितना लाभ मिला, यह कह पाना कठिन है।

(iii) सामाजिक सेवायें निःशुल्क दी जाती है, जैसे- शिक्षा, चिकित्सा आदि। इनका मूल्य लेना अनुचित है और साथ ही हास्यास्पद भी।

(iv) यह आय की असमानता को दूर करने सम्बन्धी विचार के विपरीत है क्योंकि लाभ के अनुसार कर लिये जाने पर निर्धन हानि में रहेंगे।

(v) यह धनी लोगों पर कम तथा गरीबों पर अधिक कर के कारण अन्यायपूर्ण है।

(vi) इसके आधार पर बड़ी योजनायें संचालित नहीं की जा सकतीं, क्योंकि उनकी क्षतिपूर्ति के अनुरूप बड़े व भारी मात्रा में कर लगाने होंगे।

फिर भी सिद्धान्त का सीमित प्रयोग पानी, बिजली, गैस आदि की स्थानीय पूर्ति सेवाओं के लिये किया जा सकता है। जैसा कि प्रो. ब्यूहलर ने कहा है– "लाभ का सिद्धान्त करारोपण के आधार के रूप में कितना ही असन्तोषजनक क्यों न हो लेकिन करारोपण में यह महत्वपूर्ण स्थान रखता है।"

(3) सेवा लागत का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को अपनी सेवाओं की लागत के बराबर ही कर वसूल करना चाहिये, न ही इससे कम या अधिक। इस सिद्धान्त के अनुसार कर मूल्य के समान है। यह सिद्धान्त देखने में सरल तथा उचित प्रतीत होता है परन्तु इसका व्यावहारिक महत्व नगण्य है और अनेक कठिनाइयां हैं–

(i) कर 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त पर आधारित नहीं हो सकते, क्योंकि कर 'अनिवार्य अंशदान' होते हैं और सामान्य हितार्थ व्यय किये जाते हैं।

(ii) सरकार द्वारा प्रदत्त सेवायें सामूहिक रूप से सम्पूर्ण जनता के लिये होती हैं। इन विभिन्न सेवाओं की लागत अलग-अलग व्यक्तियों के लिये करारोपण के लिये किस प्रकार मापी जा सकती है।

(iii) इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की सदस्यता ऐच्छिक हो जाती है जबकि वह अनिवार्य है।

(iv) सरकार अपनी सारी सेवायें लागत पर देगी, तब निर्धनों की निःशुल्क सेवा का क्या होगा।

(4) करदेय योग्यता का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार कर लोगों की सामर्थ्य के अनुसार लिये जाने चाहिये। व्यवहार में इसका अर्थ लोगों की आर्थिक समृद्धि या उनके जीवन-स्तर के अनुसार कर लिये जाने चाहिये। जिस व्यक्ति की आर्थिक समृद्धि जितनी हो उसके अनुरूप उससे कर लिया जावे। इस सिद्धान्त के अनुसार,

(i) जिन लोगों की करदेय क्षमता बराबर हो, वे समान मात्रा में कर देंगे।

(ii) जिन लोगों की करदेय क्षमता भिन्न है वे भिन्न-भिन्न मात्रा में कर देंगे। कम करदेय क्षमता वाला व्यक्ति अधिक क्षमता वाले व्यक्ति से कम कर देगा। इस प्रकार कर का भार न्यायपूर्ण तरीके से वितरित हो सकेगा। यदि समाज के सभी सदस्यों की आर्थिक दशा एक जैसी है तब सभी नागरिक समान रूप से कर देंगे। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं पाया जाता। अतः भिन्न-भिन्न आर्थिक स्थितियों वाले व्यक्तियों पर क्यों कर अलग-अलग मात्रा में कर लगाया जावे, इस विषय पर दो प्रकार के विचार हैं– (1) भावात्मक दृष्टिकोण, (2) वस्तुपरक दृष्टिकोण।

(1) भावात्मक दृष्टिकोण के अनुसार कर लगाने का दृष्टिकोण उपयोगिता का त्याग है।

चूँकि उपयोगिता का त्याग या अनुपयोगिता मानसिक अनुभव से सम्बन्धित है अतः इसे भावनात्मक विचार माना गया है। उपयोगिता-त्याग तीन प्रकार से मापा जा सकता है–

(अ) समान त्याग सिद्धान्त, (ब) समानुपातिक त्याग सिद्धान्त, (स) न्यूनतम सामूहिक त्याग सिद्धान्त।

(अ) समान त्याग का सिद्धान्त– कर इस प्रकार लगाया जाना चाहिये कि सभी व्यक्तियों को बराबर का त्याग करना पड़े। मार्शल तथा सिजविक इसी समान त्याग को करारोपण का उचित आधार मानते थे। समान धनराशि देने से समान त्याग सम्भव नहीं है अपितु एक निर्धन व्यक्ति का एक रुपये धनी व्यक्ति के 10 रुपये बराबर उपयोगी हो सकता है। अतः समान त्याग के लिये धनी व्यक्ति से अधिक लेकर उतना ही त्याग लिया जा सकता है जितना एक निर्धन से 1 रुपये लेकर।

निम्न तालिका से स्पष्ट है कि धनी और निर्धन व्यक्तियों का त्याग समान करने के लिये उनसे क्रमशः 3 रुपये और 1 रुपये कर के रूप में लिया जाना चाहिये। ऐसी स्थिति में वे समान त्याग कर रहे होंगे–

कर के रूप में दिये गये रुपयों की इकाइयाँ	उपयोगिता का त्याग	
	धनी व्यक्ति	निर्धन व्यक्ति
1	2	10
2	3	12
3	5	15
4	8	19
5	12	25

(ब) समानुपाती त्याग का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार कर इस प्रकार लगाये जावें ताकि हर व्यक्ति को अपनी आय से मिलने वाली कुल उपयोगिताओं के अनुपात में उपयोगिताओं का त्याग करना पड़े। कोहेन स्टुअर्ट इसी मत के समर्थक रहे हैं।

मान लीजिये कि एक धनी व्यक्ति को अपनी कुल आय से मिलने वाली उपयोगिता 1200 है जबकि निर्धन व्यक्ति को अपनी कुल आय से केवल 400 कुल उपयोगिता मिलती है। तब कर इस प्रकार लगाया जाना चाहिये कि कर से होने वाला त्याग या अनुपयोगिता का अनुपात 1200 : 400 के अनुपात में क्रमशः हो अथवा इसे इस प्रकार कहेंगे कि धनी व्यक्ति का त्याग निर्धन की अपेक्षा तीन गुना होना चाहिये, तब समानुपाती त्याग होगा। ऊपर की तालिका के अनुसार धनी से 5 रुपये तथा निर्धन से एक रुपये लेने पर त्याग समानुपाती होगा।

(स) न्यूनतम सामूहिक त्याग सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण इस प्रकार किया जाना चाहिये ताकि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा त्याग की गई सीमान्त उपयोगिता बराबर हो। ऐसी अवस्था में कर लगाने पर पूरे समाज का सामूहिक त्याग मात्रा में न्यूनतम होगा। यह अधिकतम सामाजिक कल्याण सिद्धान्त पर आधारित विचार है। इसका समर्थन एजवर्थ, पीगू, डाल्टन, कारवर और कैनन ने किया है। इस सिद्धान्त का तात्पर्य केवल इतना है कि प्रत्येक व्यक्ति से लिये जाने वाले कर की मात्रा ऐसी हो ताकि सभी का सीमान्त त्याग एक जैसा हो, इससे समाज को न्यूनतम त्याग करना पड़ेगा।

जैसा कि नीचे की उदाहरण तालिका से स्पष्ट होता है–

कर इकाई रुपये	अ व्यक्ति द्वारा	उपयोगिता त्याग		
		'ब' व्यक्ति द्वारा	'स' व्यक्ति द्वारा	'द' व्यक्ति द्वारा
1	3	4	6	7
2	4	5	7	9
3	6	7	9	11
4	7	8	12	14
5	9	10	14	17
6	11	13	18	19
कर की राशि	4	3	2	1

इस तालिका के अनुसार मान लीजिये कि सरकार कुल 10 रुपये कर के रूप में लेना चाहती है तब 'अ' व्यक्ति से 4 रुपये, 'ब' व्यक्ति से 3 रुपये, 'स' व्यक्ति से 2 रुपये तथा 'द' व्यक्ति से एक रुपये लेकर न्यूनतम त्याग द्वारा न्याय कर सकती है। यदि उसे एक रुपये लेना हो तो 'द' व्यक्ति से या 2 रुपये लेना हो तो 'स' व्यक्ति पर करारोपित करे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भी न्यूनतम उपयोगिता त्यागकर कर देगा। अतः वह अगली इकाई तभी देगा जब अन्य पर कर आरोपित किया जावेगा। इसमें प्रत्येक करदाता का सीमान्त त्याग भी एक जैसा अर्थात् 7 रुपये का है। दूसरे शब्दों में एक करदाता पर तब तक करारोपण होना चाहिये जब तक कि उसका सीमान्त त्याग दूसरे के बराबर नहीं हो जाता।

यदि धन तथा कल्याण में एक-सा सम्बन्ध मान लिया जावे तब एक व्यक्ति पर कर तब तक लगना चाहिये जब तक कि उसकी आय दूसरे व्यक्ति के आय-स्तर पर न आ जावे। इससे सबके पास बराबर आय हो जावेगी।

प्रो. पीगू ने इस सम्बन्ध में कहा है कि– "ऐसा महसूस होता है कि सम-सीमान्त त्याग की प्रणाली को पूर्णतया लागू करने के फलस्वरूप एक न्यूनतम आय-स्तर के ऊपर सभी आयों के शीर्ष कट जावेंगे और करारोपण के पश्चात् हर व्यक्ति के पास बराबर आय बच रहेगी।"

इस रेखाचित्र में 10,000 रुपये वार्षिक आय-स्तर कर लेने के बाद सबके पास समान रूप से शेष रह जाता है।

इस सिद्धान्त के विवेचन से स्पष्ट होता है कि–

(i) अधिकतम आय वाले नागरिक पर सर्वप्रथम कर लगाया जाना चाहिये ताकि वह सीमान्त त्याग (उपयोगिता) पर आ सके।

(ii) नीचे के स्तर पर कर लगाने के पूर्व ऊंचे स्तर की आय को नीचे के स्तर तक समान किया जाना चाहिये।

(iii) जब तक ऊंची आय स्तर नीचे के आय-स्तर तक न पहुंच जावे, तब तक नीचे के आय-स्तर से कर नहीं लिया जाना चाहिये।

आलोचना– यद्यपि इस सिद्धान्त का पर्याप्त व्यावहारिक महत्व है तथापि इसके परिपालन के कारण इसके अनेक दोष निकाले गये–

(अ) त्याग एक भावात्मक विचार है, इसकी माप सम्भव नहीं है।

(ब) इस सिद्धान्त के परिपालन का अर्थ है करारोपण इतनी प्रगतिशील दरों से करना कि चंद व्यक्तियों की सम्पत्ति ही समाप्त कर दी जावे। इसे औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

(स) इसका उत्पादन, बचत, निवेश और पूंजी-निर्माण पर बुरा असर होगा।

(द) अल्प-विकसित देशों का लक्ष्य केवल आय, धन सम्बन्धी विषमतायें मिटाना ही नहीं होता। आर्थिक विकास का लक्ष्य बिना बचत, आय और पूंजी निर्माण के पूरा होना सम्भव नहीं है। इससे उत्पादन-क्षमता भी कम होगी।

(2) वस्तुपरक दृष्टिकोण– इस दृष्टिकोण के अनुसार भावात्मक दृष्टि और त्याग पर विचार न कर भौतिक व व्यावहारिक बातों को आधार बनाकर करारोपित करने की सलाह दी जाती है। इस सम्बन्ध में दो आधारों पर विचार किया जाता है–

(i) कर का आधार क्या हो?

(ii) कर की दर क्या हो?

(i) कर लगाने के आधार निम्नलिखित हो सकते हैं– •

(अ) सम्पत्ति, (ब) आय, (स) उपभोग, (द) बचत।

(अ) सम्पत्ति– जिन व्यक्तियों के पास अधिक सम्पत्ति हो उन पर अधिक करारोपण किया जावे, किन्तु कम सम्पत्ति वाले की आय अधिक होने पर वह कर से बच निकलेगा।

(ब) अतः आय अधिक होने पर अधिक दर से कर लगाया जावे क्योंकि उसकी करदेय क्षमता अधिक होगी तथापि कैल्डोर करारोपण के लिये इसे अच्छा आधार नहीं मानते, क्योंकि अधिक आय वाले से दूसरे की सम्पत्ति अधिक हो सकती है, उसके पारिवारिक उत्तरदायित्व अधिक हो सकते हैं तथा उसकी आय अर्जित हो सकती है।

(स) अतः अधिक उपभोग करने वाले पर व्यय कर करारोपण का अच्छा आधार हो सकता है क्योंकि इससे उसकी सामर्थ्य का पता लगता है, साथ ही जीवनस्तर बनाये रखने के लिये वह अधिक आय भी प्राप्त करेगा। किन्तु कंजूस व्यक्ति इससे करारोपण से बच सकता है। एक बड़े परिवार के मुखिया को आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये ही अधिक कर देना पड़ सकता है। इससे उपभोग में कमी के कारण कार्यकुशलता पर असर पड़ेगा। इसके साथ ही व्यय-कर का प्रशासन भी कठिन है।

(द) अतः अधिक बचत करने वाले की कर-सामर्थ्य अधिक मानकर बचतों पर कर लगाया जावे। परन्तु इससे पूंजी निर्माण और निवेश पर बुरा असर पड़ेगा। व्यावहारिक रूप में आय को ही करारोपण का आधार मान लेना न्यायोचित होगा तथापि सम्पत्ति, व्यय आदि को भी पूरक आधार बनाया जा सकता है।

(ii) कर की दरों को प्रगतिशील बनाकर आय तथा धन सम्बन्धी असमानताओं को कम करते हुये करारोपण करना न्यायसंगत होता है।

<u>लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-</u>

प्रश्न–(1) वित्तीय सिद्धान्त क्या है?

उत्तर– प्रारम्भ में अर्थशास्त्रियों का मुख्य उद्देश्य करारोपण के माध्यम से आय अर्जित करना था। इसके अनुसार, व्यक्तियों पर कर इस प्रकार लगाया जाना चाहिये कि उसमें सरकार को पर्याप्त आय तो प्राप्त हो, किन्तु साथ ही लोगों द्वारा किया जाने वाला त्याग भी कम से कम हो। इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य यह था कि करों द्वारा अधिक से अधिक आय किस रूप में प्राप्त की जाये और लोगों द्वारा इसका कम से कम विरोध हो।

प्रश्न–(2) कराघात से आप क्या समझते हैं?

उत्तर– कराघात अथवा कर का दबाव उस व्यक्ति पर पड़ता है जिस पर सरकार कर लगाती है और जो वास्तव में सरकार को कर का भुगतान करता है और करदाता के रूप में सरकार के पास इसी व्यक्ति का नाम पंजीकृत होता है। कर देने का तात्कालिक प्रभाव जिस व्यक्ति पर पड़ता है, उसे कराघात कहते हैं।

प्रश्न–(3) कराघात कितने कहते हैं?

उत्तर– करापात विवर्तन का अन्तिम परिणाम है, यह प्रत्यक्ष मौद्रिक भार है। इस प्रकार करापात की समस्या में यह विश्लेषण किया जाता है कि कर भुगतान कौन करता है अर्थात् मौद्रिक भार किस पर पड़ता है? इस प्रकार कर का भार उस व्यक्ति पर पड़ता है जो अन्तिम रूप से कर का भुगतान करता है अर्थात् जो अन्तिम रूप से करके मौद्रिक भार को वहन करता है।

प्रश्न–(4) प्रत्यक्ष कर के गुण लिखिये।

उत्तर– प्रत्यक्ष करों के मुख्य गुण निम्नवत् हैं–

1. **निश्चितता–** कर की दर तथा कर की वसूली दोनों ही निश्चित होते हैं, जिससे करदाता व सरकार दोनों लाभान्वित होते हैं।
2. **सामाजिक लाभ–** इन करों से व्यक्ति में नागरिकता की भावना जाग्रत होती है और वह यह ज्ञात करने का प्रयास करता है कि सरकार कहीं उस कोष का दुरुपयोग तो नहीं कर रही है।
3. **प्रत्यक्ष सम्बन्ध–** यह कर सरकार के पास प्रत्यक्ष रूप में जमा करा दिया जाता है, जिससे सरकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और करदाता को भी कठिनाइयाँ नहीं होती हैं।

प्रश्न–(5) करारोपण में न्याय अथवा समता से क्या आशय है? करारोपण में न्याय प्राप्त करने हेतु सुझाव दीजिए।

उत्तर– करारोपण में न्यायशीलता का महत्व– एक प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली में प्रत्येक नीति इस प्रकार निर्धारित होनी चाहिए, जिसमें किसी के साथ अन्याय की संभावना न हो, क्योंकि जिस वर्ग के साथ अन्याय किया गया, वही असन्तुष्ट होकर सरकार विरोधी हो जायेगा। राजनीतिक अधिकारों से भी अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक अधिकार होते हैं, क्योंकि इनके अनुसार व्यक्तियों की जेब से धनराशि निकलती है। वास्तव में करारोपण में इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि करों की मात्रा न्यायपूर्ण है अथवा नहीं।

कर लगाने के बारे में कहा जाता है कि कर न्याय पर आधारित होना चाहिए। अर्थात् कर का निर्धारण इस प्रकार हो कि विभिन्न करदाताओं पर पड़ने वाला कर का भार न्यायशील हो। परन्तु करारोपण को न्यायशील बनाना कोई सरल कार्य नहीं है। इस सम्बन्ध में, विद्वानों ने निम्नलिखित सिद्धान्त बताये हैं–

(1) लाभ का सिद्धान्त, (2) सेवा की लागत का सिद्धान्त, (3) भुगतान क्षमता का सिद्धान्त।

प्रश्न–(6) कर चुकाने के भावात्मक दृष्टिकोण को समझाइए।

उत्तर– भावात्मक (व्यक्तिगत) दृष्टिकोण– भावात्मक दृष्टिकोण व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक धारणा पर आश्रित है तथा यह व्यक्तियों की अपनी व्यक्तिगत समस्याओं से सम्बन्धित होता है। करदाता कर देते समय जिस कष्ट या त्याग का अनुभव करता है, उसी कष्ट का अध्ययन इस दृष्टिकोण में किया जाता है। समान त्याग का सिद्धान्त यह चाहता है कि समान आय वाले

व्यक्ति समान धनराशि अदा करें और भिन्न आय वाले व्यक्ति भिन्न राशि अदा करें। परन्तु समस्या यह है कि यह धनराशि किस प्रकार से भिन्न हो। समान शब्द के अर्थ भिन्न हो सकते है। इसके तीन अर्थ हो सकते हैं–

(1) **समान निरपेक्ष त्याग का सिद्धान्त–** इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण तभी न्यायपूर्ण हो सकता है, जबकि प्रत्येक मनुष्य के लिए त्याग की मात्रा समान हो। डाल्टन के अनुसार, समान त्याग का अर्थ यहाँ अनुपातिक त्याग की समानता से है अर्थात् कर अदा करने के उपरान्त करदाताओं की सापेक्षिक स्थिति वही रहे, जो कर अदा करने से पूर्व थी।

(2) **समानुपातिक त्याग का सिद्धान्त–** इस सिद्धान्त के अनुसार करदाताओं पर कर का भार उनकी आर्थिक शक्ति के अनुपात में निश्चित होता है। यह भार समान नहीं रहता है। अर्थात् कर की दर आय के घटने-बढ़ने के साथ कम-अधिक होती रहती है। जिन व्यक्तियों में अधिक त्याग करने की शक्ति होती है, वे अधिक धनराशि कर के रूप में अदा करते हैं और जिनमें तुलनात्मक रूप से कम शक्ति होती है, वे कर कम अदा करते हैं और जिनमें त्याग क्षमता बिल्कुल नहीं है, वे करमुक्त रहते हैं। कहने का आशय यह है कि इस पद्धति के अनुसार करारोपण न्यायसंगत होने के लिए प्रगतिशील होना चाहिए।

(3) **न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त–** इस सिद्धान्त के अनुसार कर इस प्रकार लगाया जाना चाहिए कि प्रत्येक करदाता को मुद्रा की अन्तिम इकाई देने से समान त्याग का अनुभव हो। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कर के रूप में एक रुपया अदा करने में उतनी ही त्याग की अनुभूति होनी चाहिए, जितनी कि एक रुपया अदा करने में दूसरे व्यक्ति को होती है।

प्रश्न–(7) कर चुकाने के वस्तुगत दृष्टिकोण को समझाइए।

उत्तर– वस्तुगत दृष्टिकोण– कुछ विद्वानों द्वारा कर देय योग्यता का उचित आधार निश्चित करने के सम्बन्ध में वस्तुगत दृष्टिकोण से स्वीकार किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार करदाता की कर देय योग्यता को बाहरी तत्वों के आधार पर मापा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में इस हेतु निम्न आधार प्रस्तुत हैं–

(1) **व्यक्ति की सम्पत्ति–** कुछ विचारकों ने सम्पत्ति को करदान सामर्थ्य का अधिक अच्छा आधार बताया है। इनके अनुसार जिन व्यक्तियों के पास अधिक सम्पत्ति है, उनसे उतना ही अधिक कर लेना चाहिए। धनी व्यक्ति की कर देने की क्षमता अधिक होती है और जो कम धनी होता है, उसकी कर देने की क्षमता भी कम होती है। इस प्रकार सम्पत्ति करदाता की कर देय क्षमता को मापने में सहायक होती है।

(2) **व्यक्ति की आय–** कुछ लेखक 'मुद्रा आय' को कर देने की योग्यता का उचित आधार मानते हैं। आजकल करारोपण के लिए इसी को आधार माना जाता है। अधिक आय वालों पर अधिक कर भार और नीची आय वालों पर कम कर का भार डाला जाता है।

(3) **व्यक्ति कर उपभोग स्तर या व्यय–** किसी व्यक्ति के कर देने की क्षमता का माप उसका उपभोग स्तर एवं व्यय है। जिस व्यक्ति का जितना अधिक व्यय हो, उससे उतना ही अधिक कर वसूल किया जाना चाहिए।

प्रश्न–(8) करारोपण में न्याय से सम्बन्धित आय सिद्धान्त को समझाइए।

उत्तर– करारोपणआय सिद्धान्त– इटली के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डी.मार्को ने इस आय सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। यह सिद्धान्त लाभ सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। उसके अनुसार राज्य तथा

नागरिकों के मध्य विनिमय सम्बन्ध रहता है। राज्य कुछ सामान्य सार्वजनिक सेवाओं का उत्पादक होता है, जबकि नागरिक उन सेवाओं का उपभोक्ता होता है। राज्य द्वारा की गयी सेवाएँ व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली उत्पादन क्रियाओं में सहयोग देती हैं तथा वस्तुओं के उपभोग को संभव बनाती हैं। नागरिक इन सेवाओं का उपभोग अपनी आय के अनुपात में करते हैं, इसलिए कर भी आय के अनुपात से वसूल किये जाने चाहिए। इस सिद्धान्त के क्रियान्वयन में निम्नलिखित त्रुटियाँ हैं–

(1) **व्यक्ति आय के अनुपात में राजकीय सेवा का प्रयोग नहीं करता–** यह सिद्धान्त प्रगतिशील आय कर की ओर संकेत करता है, परन्तु इसका दोष यह है कि यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य की सेवाओं को आय के अनुपात में प्राप्त करता है। यह सत्य नहीं है और इसीलिए इस सिद्धान्त को स्वीकारा नहीं जा सकता।

(2) **कल्याणकारी राज्य की धारणा के विपरीत–** यह सिद्धान्त कल्याणकारी राज्य की धारणा से बिल्कुल विपरीत है, क्योंकि निर्धन व्यक्तियों की आय कम होती है, परन्तु अधिकतम कल्याण के उद्देश्य के कारण उन्हें अधिक सेवाएँ उपलब्ध करायी जाती हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त में भी लाभ सिद्धान्त के दोष विद्यमान हैं।

इकाई 3

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. सार्वजनिक व्यय का आशय तथा इसके अर्थशास्त्रियों द्वारा किए गये विभिन्न वर्गीकरणों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– सार्वजनिक व्यय का आशय– किसी देश या राज्य में केन्द्र सरकार, राज्य सरकार या स्थानीय निकायों द्वारा प्रशासन, सुरक्षा, शिक्षा, न्याय, स्वास्थ्य, समाज कल्याण, आर्थिक विकास आदि मदों पर जो राशि व्यय की जाती है, वह सार्वजनिक व्यय कहलाता है। पुराने समय में राजा–महाराजाओं द्वारा युद्ध लड़ने एवं अपने निजी शौक के लिए ही व्यय किया जाता है, लेकिन वर्तमान समय में सरकारों द्वारा विभिन्न मदों पर व्यय किया जाता है, ताकि देश में सुरक्षा, शांति, जनकल्याण आर्थिक एवं सामाजिक विकास हो सके।

सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण– विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने लोक व्यय का वर्गीकरण पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से किया है। स्प्रीगल के मतानुसार "वर्गीकरण उन समस्त पदों की विस्तृत एवं नियमानुसार तैयार की गई एक विस्तृत सूची है, जो कि विशेष प्रकार के समस्त कार्यों के लिए आवश्यक होती है।" इनमें से प्रमुख वर्गीकरण का आधार निम्नलिखित है–

(1) **आय के आधार पर वर्गीकरण– प्रो. निकलसन** ने सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण इस आधार पर किया है कि सरकार को व्यय के बदले में कितनी आय प्राप्त होती है? इस दृष्टि से लोक व्यय को प्रो. निकलसन ने निम्नलिखित चार भागों में रखा गया है–

(i) **अतिरिक्त आय की प्राप्ति–** इस व्यय से सरकार का व्यय पूर्ण होने के साथ-साथ अतिरिक्त आय भी प्राप्त होती है। जैसे– रेल, डाकखाने एवं सड़कों पर व्यय आदि।

(ii) **परोक्ष लाभ–** लोक व्यय का वह रूप जिससे सरकार को अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों की कार्यक्षमता एवं उत्पादन में वृद्धि से आय में वृद्धि हो तो वह व्यय इस वर्ग में रखा जाता है।

(iii) **अलाभकर व्यय–** इस प्रकार के व्यय से राज्य को किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नहीं होता। जैसे– निर्धनों को दी गई सहायता या युद्ध स्तर पर किया गया व्यय आदि।

(iv) **आंशिक प्रत्यक्ष लाभ–** इस व्यय से राज्य को आंशिक रूप से प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होता है। जैसे– न्यायालय पर व्यय तथा सशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना आदि।

(2) **प्रो. मिल का वर्गीकरण– प्रो.** मिल ने प्रो. एड्म्स की आलोचना करते हुए लोक व्यय को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया है–

(i) **आवश्यक व्यय–** इसमें उन व्ययों को शामिल किया जाता है जो कि सरकार को कानूनी प्रतिबंध के कारण करने आवश्यक होते हैं। यह व्यय प्रायः स्थिर प्रकृति के होते हैं और उन्हें प्रतिवर्ष किया जाना आवश्यक माना जाता है।

(ii) **ऐच्छिक व्यय–** इसमें वे व्यय शामिल किए जाते हैं, जिनका करना सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है और जिनमें परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तन भी किए जा सकते हैं। जैसे– सड़कों, रेलों एवं लोक उपक्रमों पर व्यय आदि।

(3) **प्रो. पीगू का वर्गीकरण– प्रो.** पीगू ने लोक व्यय को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया है–

(i) **हस्तान्तरण व्यय–** इसमें उन व्ययों को शामिल किया जाता है, जो सरकार द्वारा नागरिकों के हितों के लिए किए जाते हैं। जैसे– बेरोजगारी लाभ, बीमारी सहायता आदि।

(ii) **अहस्तान्तरण व्यय–** जो व्यय सरकार द्वारा अपने लाभ के लिए किए जाते हैं, उन्हें अहस्तान्तरण व्यय कहते हैं। जैसे– नागरिक प्रशासन पर किया गया व्यय आदि।

(4) **प्रो. रोश्चर का वर्गीकरण– प्रो.** रोश्चर ने लोक व्यय को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है–

(i) **आवश्यक व्यय–** इसमें उन व्ययों को शामिल किया जाता है, जिन्हें सरकार द्वारा करना आवश्यक होता है। जैसे– सुरक्षा व्यय, नागरिक प्रशासन पर व्यय आदि।

(ii) **लाभदायक व्यय–** इसमें वे व्यय लिखे जाते हैं, जिन्हें करना आवश्यक नहीं होता है। जैसे– सजावट व्यय आदि।

(iii) **अनावश्यक व्यय–** यह व्यय जनता के लिए लाभकारी होते हैं तथा इन्हें परिस्थितियों के आधार पर स्थगित और परिवर्तित किया जा सकता है। जैसे– स्वास्थ्य व्यय, बीमारी लाभ, शिक्षा पर व्यय आदि।

(5) **श्रीमती हिक्स का वर्गीकरण–** श्रीमती हिक्स ने लोक व्यय को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है–

(i) **सुरक्षा व्यय–** लोक व्ययों को सर्वप्रथम देश की सुरक्षा पर व्यय किया जाना चाहिए।

(ii) **नागरिक प्रशासन–** तत्पश्चात् लोक व्यय को नागरिक प्रशासन कार्यों पर व्यय किया जाना चाहिए।

(iii) **आर्थिक व्यय–** लोक व्ययों को आर्थिक कार्यों पर भी व्यय किया जाना चाहिए। जैसे– आर्थिक सहायता, अनुदान तथा उपक्रमों के संचालन करने का व्यय आदि।

(iv) **सामाजिक सुरक्षा–** सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से भी व्यय किया जाना चाहिए। सामाजिक सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया गया है और इससे समाज कल्याण में वृद्धि संभव होती है।

(6) **कोहन व प्लेहन का वर्गीकरण–** कोहन व प्लेहन ने लाभ के आधार पर लोक व्यय को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया है–

(i) **विशेष वर्ग को लाभान्वित–** यह व्यय समाज के कुछ विशेष वर्ग के लिए किया जाता है, जिससे अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण समाज लाभान्वित होता है। जैसे– बीमारी बीमा, वृद्धावस्था पेंशन तथा बेकारी बीमा का लाभ आदि।

(ii) **विशिष्ट व्यक्तियों को लाभ–** इसमें केवल उन व्ययों को शामिल किया जाता है, जो कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को लाभ पहुँचाते हैं। जैसे– राजकीय उद्योगों पर व्यय आदि।

(iii) **समाज को लाभ–** इसमें उन व्ययों को शामिल किया जाता है, जिसका लाभ समाज में रहने वाले व्यक्तियों को साधारण रूप से प्राप्त होता है। जैसे– स्वास्थ्य कार्यों पर व्यय, शिक्षा व सुरक्षा पर व्यय आदि।

(iv) **मिश्रित लाभ–** कुछ व्यय ऐसे होते हैं, जो कुछ व्यक्तियों को विशिष्ट लाभ तथा सम्पूर्ण समाज को सामान्य लाभ पहुँचाते हैं। जैसे– न्याय व्यवस्था पर व्यय आदि।

(7) **प्रो. एडम्स का वर्गीकरण–** प्रो. एडम्स ने राजकीय व्यय का वर्गीकरण व्यक्तियों पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर निम्न प्रकार से किया है–

(i) **व्यापार व वाणिज्य सम्बन्धी–** इसमें वे व्यय शामिल किएं जाते हैं, जो कि व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति हेतु किए जाते हैं। जैसे– रेल, सड़कें, डाक आदि पर किया गया व्यय।

(ii) **सुरक्षा व्यय–** जो व्यय देश के नागरिकों की सुरक्षा करने के लिए किए जाते हैं, उन्हें इस वर्ग में शामिल करते हैं। जैसे– पुलिस, सेना, जेल, न्यायालय के व्यय आदि।

(iii) **विकास व्यय–** इसमें उन व्ययों को शामिल करते हैं, जो कि देश के विकास एवं नागरिकों के कल्याण के लिए आवश्यक रूप से किए जाते हैं। जैसे– सामाजिक बीमा, लोक निर्माण आदि पर व्यय।

(8) **प्रो. शिराज का वर्गीकरण–** प्रो. शिराज ने लोक व्यय को इस आधार पर निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है–

(i) **प्राथमिक व्यय–** ऐसे समस्त व्यय जो देश में सुरक्षा एवं शान्ति की स्थापना के लिए किए जाते हैं, उन्हें प्राथमिक व्यय में शामिल किया जाता है। इन व्ययों को करना

सरकार का प्रमुख कर्तव्य होता है। देश में शान्ति बनाए रखना एवं देश को बाह्य आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करना प्रत्येक सरकार का प्रमुख कर्तव्य होता है।

(ii) **गौण व्यय–** जो व्यय समाज के कल्याण हेतु किए जाते हैं, उन्हें गौण व्यय में शामिल करते हैं। जैसे– सामाजिक कल्याण, बेकारी व शिक्षा आदि पर व्यय।

(9) **डाल्टन का वर्गीकरण–** डाल्टन, जो राजस्व के जनक माने जाते हैं, ने लोक व्यय को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है–

(i) **प्रशासन व्यय–** इसमें नागरिक प्रशासन सम्बन्धी व्ययों को शामिल किया जाता है। जैसे– कार्यकारिणी व विधानसभा द्वारा किए गए व्यय, आदि।

(ii) **न्याय व्यय–** वे व्यय को न्याय से सम्बन्धित होते हैं, इसमें शामिल किए जाते हैं। इसमें न्यायालय पर होने वाले व्ययों को शामिल किया जाता है।

(iii) **सामाजिक सुधार–** जो व्यय शिक्षा, जनहित एवं सामाजिक सुरक्षा पर किए जाएँ, उन्हें इस वर्ग में शामिल करते हैं।

(iv) **विकास व्यय–** जो व्यय कृषि, उद्योग एवं वाणिज्य के विकास के लिए किए जाते हैं, उन्हें विकास सम्बन्धी व्यय में शामिल करते हैं।

(v) **ऋण सम्बन्धी–** राजकीय ऋण प्राप्त करने में जो व्यय किये जाएँ, उन्हें ऋण सम्बन्धी व्ययों में शामिल करते हैं।

(vi) **दूतावास व्यय–** विदेशों में दूतावास सम्बन्धी तथा अन्य प्रतिनिधियों को बनाए रखने सम्बन्धी व्ययों को इस वर्ग में सम्मिलित किया जाता है।

(vii) **शान्ति व्यवस्था सम्बन्धी–** विदेशी आक्रमणों के विरूद्ध देश की सुरक्षा तथा देश में आन्तरिक शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के लिए जो व्यय किए जाते हैं, उन्हें इस वर्ग में शामिल करते हैं।

(10) **प्रशासनिक इकाई का आधार–** राज्य की प्रशासनिक इकाई के आधार पर लोक व्यय को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) **स्थानीय व्यय–** स्थानीय संस्थाओं द्वारा किया गया व्यय स्थानीय व्यय कहलाता है। जैसे– नगर महापालिका, जिला परिषद्, आदि का व्यय।

(ii) **प्रांतीय व्यय–** जो व्यय देश की प्रांतीय सरकार द्वारा किए जाते हैं, उन्हें प्रांतीय व्यय में शामिल करते हैं। जैसे– पुलिस, शिक्षा, कृषि, आदि पर व्यय करना।

(iii) **केन्द्रीय व्यय–** जो व्यय केन्द्रीय सरकार द्वारा किए जाते हैं, उन्हें केन्द्रीय व्यय कहते हैं। जैसे– सुरक्षा, नागरिक कल्याण आदि पर व्यय।

प्रश्न–2. आर्थिक विकास में सार्वजनिक वित्त की भूमिका को समझाइए।

उत्तर– सार्वजनिक वित्त संसाधनों के आवंटन को सुविधाजनक बनाकर, स्थिरता को बढ़ावा देने और सतत विकास को सक्षम करके आर्थिक विकास को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आर्थिक मंदी के दौरान, सरकार मांग को प्रोत्साहित करने और आर्थिक गतिविधि को बढ़ावा देने के लिए कराधान और सरकारी खर्च जैसे राजकोषीय नीति उपकरणों का उपयोग कर सकती है। इसी प्रकार, मुद्रास्फीति और अत्यधिक गर्मी की अवधि के दौरान, सरकार कुल मांग को कम करने और मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के उपायों को

लागू कर सकती है। ये कार्रवाइयाँ मूल्य स्थिरता बनाए रखने और सतत आर्थिक विकास के लिए अनुकूल माहौल बनाने में मदद करती है।

सार्वजनिक वित्त भी निजी निवेश को आकर्षित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बुनियादी ढाँचे के विकास में निवेश करके और एक स्थिर और पूर्वानुमानित नियामक वातावरण प्रदान करके, सरकार व्यवसायों के फलने-फूलने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बना सकती है। इसके अतिरिक्त, सार्वजनिक वित्त का उपयोग आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण विशिष्ट क्षेत्रों या उद्योगों को बढ़ावा देने हेतु सब्सिडी, कर प्रोत्साहन और अन्य प्रकार के समर्थन प्रदान करने के लिए किया जा सकता है।

(1) बुनियादी ढाँचे का विकास– सार्वजनिक वित्त की प्राथमिक भूमिकाओं में से एक बुनियादी ढाँचे का विकास करना है। आर्थिक विकास को बढ़ावा देने में बुनियादी ढाँचे का विकास महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और इसमें सड़कों, पुलों, हवाई अड्डों, बंदरगाहों, रेलवे और अन्य आवश्यक सार्वजनिक उपयोगिताओं का विकास शामिल है। सरकार सार्वजनिक-निजी भागीदारी, ब्रांड जारी करने और अन्य स्रोतों के माध्यम से बुनियादी ढाँचे के विकास को वित्तपोषित कर सकती है। पर्याप्त बुनियादी ढाँचे की उपलब्धता निवेश को आकर्षित कर सकती है और आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा दे सकती है।

(2) शिक्षा एवं स्वास्थ्य देखभाल– सार्वजनिक वित्त शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच प्रदान करके आर्थिक विकास को भी बढ़ावा दे सकता है। मानव पूंजी के विकास के लिए शिक्षा आवश्यक है, और स्वस्थ कार्यबल सुनिश्चित करने हेतु स्वास्थ्य सेवाएँ महत्वपूर्ण हैं। सरकार स्कूलों और अस्पतालों के निर्माण के लिए संसाधन आवंटित करके, शिक्षकों एवं डॉक्टरों को काम पर रखने और छात्रों को छात्रवृत्ति तथा अन्य वित्तीय सहायता प्रदान करके शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं के लिए धन उपलब्ध करा सकती है।

(3) समाज कल्याण कार्यक्रम– सामाजिक कल्याण कार्यक्रम जैसे बेरोजगारी लाभ, खाद्य टिकट और अन्य सामाजिक सुरक्षा जाल कार्यक्रम भी आर्थिक विकास को बढ़ावा दे सकते हैं। ये कार्यक्रम गरीबी को कम करने और उपभोक्ता खर्च बढ़ाने, आर्थिक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने में मदद करते हैं। सरकार करों और अन्य स्रोतों के माध्यम से सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों को वित्तपोषित कर सकती हैं।

(4) सार्वजनिक निजी साझेदारी– सार्वजनिक वित्त आर्थिक विकास को बढ़ावा देने हेतु सार्वजनिक-निजी भागीदारी की सुविधा भी प्रदान कर सकता है। सार्वजनिक-निजी भागीदारी में बुनियादी ढाँचे के विकास, सार्वजनिक सेवाएँ प्रदान करने और आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए सरकार और निजी क्षेत्र की संस्थाओं के बीच सहयोग शामिल है। सरकार निजी क्षेत्र की संस्थाओं को सार्वजनिक बुनियादी ढाँचे और सेवाओं में निवेश करने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए धन, प्रोत्साहन और अन्य सहायता प्रदान कर सकती है।

(5) राजकोषीय नीति– राजकोषीय नीति, जिसमें सरकारी खर्च और कराधान नीतियाँ शामिल हैं, आर्थिक विकास को भी बढ़ावा दे सकती हैं। सरकार निजी क्षेत्र के निवेश को प्रोत्साहित करने, आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने और आय असमानता को कम करने के लिए राजकोषीय नीति का उपयोग कर सकती है। उदाहरण के लिए, सरकार निवेश और

उपभोक्ता खर्च को प्रोत्साहित करने के लिए व्यवसायों और व्यक्तियों के लिए कर कम कर सकती है या नौकरियाँ पैदा करने और आर्थिक गतिविधि को प्रोत्साहित करने के लिए बुनियादी ढाँचे पर खर्च बढ़ा सकती है।

प्रश्न–3. सरकार को सार्वजनिक व्यय किस प्रकार करना चाहिये ताकि उसके नागरिकों को अधिक से अधिक लाभ हो? स्पष्ट कीजिये।

अथवा

'सार्वजनिक (लोक)–व्यय का प्रमुख सिद्धान्त इस खोज में निहित है कि लोक व्यय के सम्बन्ध में आधारभूत नियम क्या हों?' विवेचना कीजिये।

अथवा

सार्वजनिक–व्यय के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये।

अथवा

फिंडले शिराज द्वारा प्रतिपादित लोक–व्यय के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– प्रो. फिंडले शिराज ने अपनी पुस्तक 'दी साइंस आफ पब्लिक फायनेन्स' में सार्वजनिक व्यय के चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। सिद्धान्त सार्वजनिक व्यय का मार्गदर्शन करने के लिये हैं ताकि व्यय कुछ निश्चित सीमाओं में हो और व्यय का दुरुपयोग रोका जा सके। अतः यदि सार्वजनिक व्यय सिद्धान्तों पर आधारित होगा, तब यह समस्या उत्पन्न नहीं होगी। शिराज के अनुसार नियम इस प्रकार हो सकते हैं–

(1) लाभ का नियम या सिद्धान्त, (2) मितव्ययता का नियम या सिद्धान्त,
(3) स्वीकृति का नियम या सिद्धान्त, (4) बचत का नियम या सिद्धान्त।

विभिन्न देशों में वित्तीय प्रशासन और नियंत्रण हेतु इन सिद्धान्तों का प्रयोग बराबर हो रहा है। इन्हें आधार मानकर प्रशासनिक व्यवस्था में दृढ़ता लाई जा सकती है तथा फिजूलखर्ची रोकी जा सकती है।

(1) लाभ का सिद्धान्त– अधिकतम सामाजिक लाभ का नियम इसका मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि सार्वजनिक व्यय इस प्रकार का हो ताकि अधिकतम व्यक्तियों को लाभ हो और वह लाभ भी अधिक से अधिक हो। चूंकि व्यवहार में इस नियम का पालन कठिन दिखलाई देता है, अतः कुछ निश्चित मानदण्डों पर व्यय किया जावे, तब इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। जैसे–

(अ) विदेशी आक्रमण से रक्षा के लिये व्यय आवश्यक है तथापि यह असीमित नहीं होना चाहिये।
(ब) आन्तरिक शान्ति तथा न्याय-व्यवस्था पर व्यय आवश्यक होता है।
(स) उत्पादन को प्रोत्साहित और वृद्धि करने वाला व्यय उचित है।
(द) आर्थिक असमानताओं को कम करने वाला व्यय भी आवश्यक होता है।
(च) सार्वजनिक व्यय किसी वर्ग विशेष के लिये न होकर पूरे समाज के लिये होना चाहिये, यदि व्यय किसी वर्ग या निजी हित के लिये होता है तब यह लाभ सिद्धान्त के अनुरूप नहीं होगा और अधिकतम सन्तुष्टि से भी दूर होगा।
(छ) सार्वजनिक व्यय किसी नीति के अन्तर्गत होना चाहिये।

परन्तु इसके बाद भी सार्वजनिक व्यय के कुछ अपवाद हो सकते हैं। ऐसे समय किया गया व्यय किसी विशिष्ट वर्ग या उद्देश्य के लिये हो सकता है। जैसे -

(i) जिस समय व्यय की राशि अत्यन्त न्यून हो,
(ii) जब सार्वजनिक व्यय किसी पिछड़े क्षेत्र या जाति के विकास के लिये किया जा रहा हो। जैसे- म प्र के आदिवासियों या उन जिलों पर व्यय।
(iii) जब कोई वर्ग या व्यक्ति न्यायालय द्वारा ऐसा अधिकार प्राप्त कर ले।
(iv) जब सार्वजनिक व्यय किसी अधिकृत नीति के अन्तर्गत किया जाना हो।
(v) जब सरकार किसी असाधारण कार्य के लिये पुरस्कार या वृत्ति दे।

अल्पकाल में कभी-कभी सार्वजनिक व्यय किसी वर्ग विशेष के हित में दिखलाई पड़ता है किन्तु दीर्घकाल में वह सामाजिक लाभ देता है।

(2) **मितव्ययता का सिद्धान्त**– किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु अपेक्षित व्यय करना मितव्ययता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यय किया ही न जावे या किन्हीं नयी योजनाओं को हाथ में ही न लिया जावे। वास्तव में व्यय में सावधानी तो होना चाहिये किन्तु कृपणता नहीं। इस प्रकार मितव्ययता का तात्पर्य कुशलता के स्तर को बनाये रखने के लिये अभीष्ट व्यय से है तथापि इसका तात्पर्य व्यय की कटौती से नहीं है।

प्रायः सार्वजनिक व्यय लाभप्रद ही होता है तथापि यह यदि हानिकारक हो, तब उसे रोकना भी मितव्ययता होगी। मितव्ययता से तात्पर्य है कि धन का व्यय इस प्रकार से हो ताकि उत्पादन-स्तर और कुशलता बनी रहे, उसमें किसी प्रकार की कमी न आने पावे। लोगों की कार्य करने, बचत करने तथा विनियोग करने की इच्छा बनी रहे और आर्थिक साधनों का सदुपयोग हो। इस सिद्धान्त की आवश्यकता तथा महत्व इन तर्कों पर आधारित है–

(अ) सार्वजनिक व्यय की मात्रा अधिक होने पर अपव्यय की सम्भावना प्रबल होती है, इसे रोकना असम्भव है अतः व्यय सीमित और आवश्यक हो।
(ब) सार्वजनिक व्यय चूंकि व्यक्ति का अपना व्यय नहीं, अतः लापरवाही की सम्भावना बनी रहती है। इस कारण व्यय में मितव्ययता आवश्यक है।
(स) कभी-कभी यह भी सम्भावना होती है कि कर्मचारी व्यय अपने स्वार्थों के लिये करें, यह धन का दुरुपयोग होगा। इससे बचना भी आवश्यक है। इस नियम का पालन करने के लिये निम्न तथ्य उपयोगी हो सकते हैं–

(i) व्यक्तिगत व्यय की तरह ही सार्वजनिक व्यय करने में सरकारी कर्मचारी सावधानी से काम लें।
(ii) केवल आवश्यक व अनिवार्य मदों पर ही व्यय किये जावें।
(iii) व्यय करने के पूर्व संसद या वैधानिक निकाय में इस पर बहस हो।
(iv) सार्वजनिक लेखे के ऑडिट का उचित प्रबन्ध हो।
(v) सार्वजनिक व्यय विधिवत् टेण्डर बुलाकर, भेजे माल का नमूना प्राप्त कर, निम्नतम मूल्य पर तथा भुगतान की रसीद लेकर ही होना चाहिये।
(vi) भण्डार में खरीदे गये माल का समुचित लेखा हर समय तैयार रखा जावे।

(3) **स्वीकृति का सिद्धान्त**– सार्वजनिक व्यय करने के पूर्व सक्षम अधिकारी से उसकी पूर्व स्वीकृति प्राप्त की जानी चाहिये। अस्वीकृत व्यय नहीं किये जाने चाहिये। इसके साथ ही जितनी राशि स्वीकृत है उससे एक पाई राशि भी अधिक व्यय नहीं करना चाहिये। फिर जिस

कार्य, उद्देश्य व संगठन या क्षेत्र के लिये व्यय स्वीकृत किया गया है व्यय केवल वहीं किया जाना चाहिये। स्वीकृति विभिन्न तीन प्रकार की हो सकती है–

(i) **वैधानिक स्वीकृति**– निश्चित विभाग ही वैधानिक स्वीकृति प्रदान करता है। अगर जनतंत्र है तब संसद सर्वोपरि है। परन्तु कभी कभी तत्काल एवं आकस्मिक व्यय तुरन्त करने होते हैं इनकी स्वीकृति बाद में भी प्राप्त की जा सकती है। किन्तु वैधानिक स्वीकृति आदेशक नहीं होती। अर्थात् कम व्यय सम्भव है, अधिक नहीं।

(ii) **प्रशासकीय स्वीकृति**– उच्च अधिकारियों द्वारा प्रदत्त राशि का समुचित व्यय करना जिससे राशि लेप्स (कालातीत) न हो सके। साथ ही व्यय की बारम्बारता का ध्यान भी रखना नियम में आता है।

(iii) **तकनीकी स्वीकृति**– विशेषज्ञों की यदि राय आवश्यक हो तब व्यय करने के पूर्व तकनीकी समस्याओं का सुलझाना, उन पर राय लेना भी आवश्यक है। जैसे- विद्युत, बाँध, नहर आदि परियोजनायें तकनीकी स्वीकृति की अपेक्षा रखती हैं। यद्यपि तकनीकी स्वीकृति वैधानिक तथा प्रशासकीय स्वीकृति के पूर्व ही प्राप्त कर ली जाती है ताकि परियोजना की लागत का सही-सही अनुमान हो सके। स्वीकृति के नियम का पालन कुछ मार्गदर्शकों द्वारा आसानी से हो सकता है। जैसे-

(i) प्रत्येक विभाग के उच्चाधिकारियों के लिये व्यय की अधिकतम सीमा निश्चित होनी चाहिये।
(ii) अधिकारी द्वारा किसी ऐसे व्यय की स्वीकृति न दी जावे जो आगे चलकर उसके अधिकार- सीमाओं के आगे चला जावे।
(iii) ऋण लेकर किये जाने वाले सार्वजनिक व्यय ऋण की सीमाओं के अन्तर्गत ही होने चाहिये।
(iv) प्रयोगात्मक व्यय सार्वजनिक ऋणों द्वारा पूरे न किये जाना चाहिये।
(v) ऋण लिये जाने पर सार्वजनिक व्यय के अन्तर्गत ऋणशोधन कोष बनाये जाना चाहिये। अगर इन मार्गदर्शकों को ध्यान में रखा जावेगा तब सार्वजनिक व्यय मितव्ययतापूर्वक, निश्चित तथा निर्धारित कार्यों पर ही होगा।

(4) **बचत का सिद्धान्त**– सरकार को अपनी आय से अधिक व्यय नहीं करना चाहिये अर्थात् बजट घाटे का नहीं होना चाहिये, बचत का बजट बनाया जाना चाहिये। परन्तु आज के विकास-युग में इसे मान्यता नहीं दी जाती है। यद्यपि बचत करना इसलिये आवश्यक है ताकि कभी असाधारण व्यय करना पड़े या व्यय अनुमान से अधिक हो जावे, तब बचत का आश्रय लिया जा सकता है। बचत करने के लिये आवश्यक है कि-

(i) सार्वजनिक व्ययों का आकलन पूर्व से ही अधिक किया जावे।
(ii) बड़ी परियोजनाओं के लिये धन का एक विशेष कोष बनाया जावे, जिसमें पर्याप्त साधनों की व्यवस्था हो।
(iii) आय के नये नये स्त्रोतों के द्वारा अधिक धन की व्यवस्था की जावे आदि।

अतः बजट बचत का होना चाहिये, लेकिन बचत अधिक नहीं होनी चाहिये अन्यथा अधिक करभार के कारण इसके अनुचित प्रभाव होंगे। इस सम्बन्ध में सन् 1920 में प्रो. शिराज ने अपनी पुस्तक में ब्रुसेल्स के अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन के प्रस्ताव का उल्लेख किया है-

'वह देश जो घाटे के बजटों की नीति को स्वीकार करता है, फिसलने वाले मार्ग पर चलता है, जो सर्वनाश की ओर ले जाता है, उस मार्ग से बचने के लिये कोई भी त्याग बड़ा नही है।'

ग्लेडस्टोन भी भविष्य के अंधकार, क्रान्ति और गड़बड़ी से बचने के लिये सन्तुलित बजट की आवश्यकता पर बल देते है तथापि आधुनिक मत इस सिद्धान्त के विपरीत है। इस मत के अनुसार कुछ परिस्थितियाँ घाटे के बजट की आवश्यकता प्रतिपादित करती हैं। जैसे-

(i) आर्थिक मन्दी के समय क्रय शक्ति की कमी को पूरा करने के लिये आय से अधिक व्यय की आवश्यकता होती है।

(ii) पिछडे क्षेत्रो/वर्गो के विकास के लिये अधिक व्यय आवश्यक होता है। इस प्रकार के क्षेत्र मे व्याप्त व्यापक निर्धनता के कारण आय प्राप्ति की अधिक सम्भावनायें नहीं होतीं।

(iii) युद्ध के समय केवल कर व ऋणों से ही उसके व्यय को पूरा नहीं किया जा सकता। अतः अधिक व्यय की आवश्यकता होती है।

इन स्थितियों में घाटे के बजट की आवश्यकता है तथापि मुद्रा-प्रसार की अवस्था मे बचत के बजट बनाकर जनता की अतिरिक्त क्रय-शक्ति को खींचा जा सकता है। अतः सिद्धान्त का सीमित उपयोग किया जा सकता है। मुद्रास्फीति की दशा में इसकी आवश्यकता सर्वविदित है।

सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी कुछ अन्य सिद्धान्त- प्रो. शिराज के द्वारा बतलाये गये सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ अर्थशास्त्री कुछ भिन्न सिद्धान्तों का पालन भी सार्वजनिक व्यय करते समय आवश्यक मानते है।

(1) लोच का सिद्धान्त, (2) उत्पादकता का सिद्धान्त,
(3) न्यायपूर्ण वितरण का सिद्धान्त, (4) समन्वय का सिद्धान्त।

(1) लोच का सिद्धान्त- इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि व्यय का सामान्य ढाँचा लचीला हो अर्थात् आवश्यकतानुसार सार्वजनिक व्यय को आय के अनुसार बढ़ाया या घटाया जा सके। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करना तो सरल है परन्तु इसे कम करने में कठिनाई आती है। जनमत के विरोध का सामना करना पड़ता है और लक्ष्य अधूरे छोड़ना पड़ते हैं। विशेष कर युद्ध के समय व्यय घटाना अत्यन्त कठिन होता है। अतः सुरक्षा आदि पर पर्याप्त व्यय की व्यवस्था रखते हुये, व्यय को लोचपूर्ण बनाया जाना चाहिये।

(2) उत्पादकता का सिद्धान्त- सार्वजनिक व्यय इस प्रकार किया जावे जिससे देश में उद्योगो की स्थापना हो, रोजगार के अवसरों में वृद्धि हो और जनता के जीवनस्तर का विकास हो। इस दृष्टि से शान्ति व सुरक्षा पर किया गया व्यय भी उत्पादक माना जाता है क्योंकि इससे उत्पादन के अवसरों की गारंटी होती है। इसी प्रकार सामाजिक सेवाओं तथा सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी व्यय भी उत्पादन वृद्धि में सहायता करता है। इससे कार्य क्षमता का विकास होता है।

(3) न्यायपूर्ण वितरण का सिद्धान्त- सार्वजनिक व्यय इस प्रकार किया जाना चाहिये ताकि अधिकतम सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो। धन वितरण सम्बन्धी असमानतायें कम हों। ऐसा न हो कि सार्वजनिक व्यय के कारण गरीब और गरीब तथा धनी और अधिक धनी हो

जावे। इसके लिये निर्धनों की क्रय शक्ति बढ़ाने वाले कार्य जैसे- निःशुल्क शिक्षा, चिकित्सा, आवास पर व्यय होने चाहिये। इन व्ययों से निर्धनो के जीवनस्तर में सुधार होकर वितरण न्यायपूर्ण होगा।

(4) समन्वय का सिद्धान्त- प्रजातंत्रीय देशों में प्रशासन की विभिन्न इकाइयों की आय-व्यय मदें अलग-अलग हुआ करती हैं। केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय निकाय विभिन्न प्रकार के व्यय करते हैं। अतः यह व्यय एक-दूसरे से सामन्जस्यपूर्ण हों। उनमें दुहरापन न हो तभी अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सकता है। पुनरावृत्ति की आशंका न होकर व्यय परिणामों में परस्पर विरोध न हो। इस प्रकार के व्यय अलग-अलग इकाइयों द्वारा किये जाना चाहिये, तब सार्वजनिक व्यय से अधिकतम कुल कल्याण की प्राप्ति होगी।

प्रश्न-1. सार्वजनिक व्यय से आप क्या समझते हैं? आधुनिक समय में भारत के सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारणों को समझाइये। (या विवेचना कीजिये)

अथवा

सार्वजनिक व्यय की परिभाषा दीजिये। वर्तमान समय में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के उत्तरदायी कारण कौन से हैं? समझाइये।

अथवा

सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के लिये आपके विचारों में आधुनिक भारत में उत्तरदायी मुख्य कारण कौन से हैं?

अथवा

सार्वजनिक व्यय से आप क्या समझते हैं? भारत में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के प्रमुख कारण क्या हैं? उनकी व्याख्या कीजिये।

अथवा

सार्वजनिक व्यय से आप क्या समझते हैं? सरकार के व्ययों में किस प्रकार की वृद्धि हुई है?

अथवा

भारत मे बढ़ते हुये सार्वजनिक व्यय के कारणों एवं उत्तरदायी घटकों की व्याख्या कीजिये।

अथवा

सार्वजनिक व्यय (लोक व्यय) से आपका क्या आशय है? आधुनिक राज्यों में सार्वजनिक व्यय के बढ़ते हुये महत्व और कारणों की विवेचना कीजिये।

अथवा

सार्वजनिक व्यय से क्या आशय है? सरकार के सार्वजनिक व्यय में किन कारणों से वृद्धि हो रही है? विवेचना कीजिये।

अथवा

सार्वजनिक व्यय को परिभाषित कीजिये। इसके बढ़ते महत्व के कारण स्पष्ट कीजिये।

उत्तर- सार्वजनिक व्यय का अर्थ एवं परिभाषा- सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक अधिकारियों केन्द्रीय, राज्य या स्थानीय सरकारों के द्वारा किया जाने वाला व्यय है। यह व्यय या तो नागरिकों की सुरक्षा या उनके आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण में वृद्धि हेतु किया जाता है। विश्व के सभी देशों में सार्वजनिक व्यय निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

सार्वजनिक व्यय का महत्व- प्राचीन समय में सार्वजनिक (लोक) व्यय सीमित मात्रा में किया जाता था, क्योकि शासक करों से प्राप्त आय को व्यक्तिगत आय मानते थे। अतः लोक आय का एक साधारण भाग ही जनहित पर व्यय किया जाता था। जे.बी.से का मत था कि

'सर्वोत्तम वित्त योजना वह है, जिसमें न्यूनतम व्यय किया जाये।' परन्तु समय के साथ-साथ राज्य के दायित्व भी बढ़े और उसके कार्यों में निरन्तर वृद्धि होती गयी। वर्तमान समय में सरकार को अपनी आय से भी अधिक व्यय करने पड़ते हैं, जिससे सार्वजनिक व्यय का महत्व बढ़ गया है। फिण्डले शिराज के अनुसार, ''वर्तमान शताब्दी में घटनाओं की जटिलता ने सबको परिवर्तित कर दिया है और अब विषय का कोई भी अन्य भाग ऐसा नहीं है, जिसने व्यावहारिक वित्त विशेषज्ञों तथा विषय लेखकों का इतना महत्व प्राप्त किया हो। प्लेहन का मत है कि ''व्यय, आय को एकत्रित करने तथा राज्य की अन्य वित्तीय क्रियाओं का उद्देश्य एवं साध्य है। इसकी उपेक्षा करने पर अन्य सभी क्रियाओं के उद्देश्य छोड़ने होंगे।'' अतः सार्वजनिक व्यय के महत्व को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है-

(1) जनोपयोगी सेवायें- देश में जल, विद्युत, परिवहन आदि जनोपयोगी सेवायें सस्ते दर पर सरकार द्वारा ही प्रदान की जा सकती हैं, जबकि निजी क्षेत्र लाभ न होने के कारण इन सेवाओं में कोई विशेष रूचि नहीं रखता।

(2) मूल्यों में उतार-चढ़ाव से रक्षा- स्फीतिक परिस्थितियों में मूल्यों में उतार-चढ़ाव होने पर सरकार को मूल्य नियन्त्रण करके हस्तक्षेप करना पड़ता है। इसी प्रकार मन्दीकाल में भी सरकारी हस्तक्षेप द्वारा ही स्थिति को काबू किया जाता है। इससे सार्वजनिक व्यय का महत्व काफी बढ़ जाता है।

(3) कमजोर वर्ग को संरक्षण- सार्वजनिक उपक्रमों में असंख्य कर्मचारी कार्य करते हैं जिनके संरक्षण हेतु कानूनों का पालन किया जाता है। कमजोर वर्ग को संरक्षण सरकारी हस्तक्षेप द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

(4) उपभोक्ता की रक्षा- उद्योगपतियों द्वारा एकाधिकार स्थापित करके उपभोक्ताओं का शोषण किया जाता है। ऐसी स्थिति में सरकार अधिकतम मूल्य निश्चित कर देती है तथा विदेशों से भी माल आयात करने की सुविधा दी जाती है। इससे एकाधिकार पर नियन्त्रण होकर उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जाती है।

(5) आर्थिक विकास- देश के आर्थिक विकास एवं उद्योगों की स्थापना में निजी पूँजीपति कोई विशेष रुचि नहीं रखते हैं और इस ओर सरकार को ही ध्यान देना पड़ता है। भारत में खाद, इस्पात, मशीनरी आदि ऐसे उद्योग हैं जिनमें निजी उद्योगपतियों द्वारा पर्याप्त मात्रा में पूंजी का विनियोजन नहीं किया गया और सरकार को ही पूंजी लगानी पड़ी।

सार्वजनिक अथवा लोक-व्यय में वृद्धि के कारण- विगत वर्षों में विश्व के सभी देशों में सार्वजनिक-व्यय का आकार बढ़ा है। 1850 में संयुक्त राज्य अमेरिका में सार्वजनिक व्यय वहां की राष्ट्रीय आय का केवल 4 प्रतिशत था, जो अब बढ़कर 41 प्रतिशत हो गया है। कनाडा में व्यय वहां की राष्ट्रीय आय का 50 प्रतिशत तक पहुँच गया है, जबकि 1939 में यह केवल 30 प्रतिशत था। विगत नियोजनकाल में भारत में ही सरकारी व्यय लगभग 50 गुना बढ़ गया है। सार्वजनिक व्यय में हुई इस भारी वृद्धि के लिये निम्नलिखित कारण उत्तरदायी रहे हैं-

(1) प्रतिरक्षा-व्यय में वृद्धि- वर्तमान युग में युद्ध की सम्भावनायें बहुत बढ़ गई हैं तथा युद्ध-संचालन की विधियाँ अति व्ययपूर्ण हो गई हैं। अणुशक्ति के विकास, जल और वायु सेना के उपयोग, युद्ध-संचालन की व्ययपूर्णता तथा युद्ध की बढ़ती हुई सम्भावनाओं के कारण प्रत्येक राष्ट्र को प्रतिरक्षा सेवाओं पर भारी मात्रा में व्यय करना पड़ रहा है। टेलर के

मतानुसार, 'सैनिक कला और विज्ञान की इतनी तीव्र प्रगति हुई है कि यन्त्रों की खरीददारी अत्यन्त मँहगी हो गई है तथा उनके नष्ट होने की दर अत्यन्त ऊँची हो गई है। सरकार द्वारा युद्ध-पीड़ित व्यक्तियों और उनके परिवारों की देखभाल, उन्हें बोनस, शिक्षा और पुनर्वास का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लेने के कारण युद्ध की लागतें बहुत बढ़ गई हैं।'

(2) ऊँचा मूल्य-स्तर- द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सभी देशों के मूल्य-स्तर में वृद्धि की प्रवृत्ति रही है। राष्ट्र-निर्माण की योजनायें क्रियान्वित करने हेतु सरकार द्वारा अपनाई गई हीनार्थ-प्रबन्धन की नीति ने मुद्रा-स्फीति (ऊँचा मूल्य-स्तर) की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। अतः राज्य को अपनी आवश्यकतायें पूरी करने तथा अपने कर्मचारियों को वेतन देने के लिये अधिक धन की आवश्यकता हुई है।

(3) आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि- वर्तमान युग में आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि को विशेष महत्व दिया जाता है, क्योंकि एक तो, यह मितव्ययी होती है और दूसरे, नागरिक अनेक तरह की असुविधाओं से बच जाते हैं। यही कारण है कि पहले जो कार्य व्यक्तियों या व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा किये जाते थे, वे कार्य (जैसे- बिजली की पूर्ति, जल की पूर्ति, यातायात की व्यवस्था आदि) आजकल राज्य या राजकीय संस्थाओं द्वारा सामूहिक तौर पर किये जाते हैं। फलतः सार्वजनिक व्यय की मात्रा में वृद्धि हुई है।

(4) राज्य की कार्यक्षमता में वृद्धि- अनेक क्षेत्रों में निजी संस्थाओं की अपेक्षा सार्वजनिक संस्थाओं की कार्यक्षमता में अधिक वृद्धि हो गई है, क्योंकि जहाँ निजी संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है, वहीं सार्वजनिक संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य जनता का अधिकतम कल्याण होता है। राज्य की कार्यक्षमता में हुई वृद्धि ने उत्पादन के क्षेत्र में सार्वजनिक हस्तक्षेप और सार्वजनिक उपक्रम का विस्तार किया है, जिसके कारण सार्वजनिक व्यय की मात्रा बढ़ी है।

(5) जनसंख्या में वृद्धि- विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार, विगत 35 वर्षों में विश्व की जनसंख्या दुगुनी हो गई है। जनसंख्या-वृद्धि के फलस्वरूप एक ओर, राज्य के प्रशासनिक व्यय में वृद्धि हुई है तथा दूसरी ओर, राज्य द्वारा प्रदत्त सुविधाओं (शिक्षा, चिकित्सा आदि) के व्यय में भी वृद्धि हुई है।

(6) जनतन्त्रीय शासन-प्रणाली का विकास- जनतन्त्रीय शासन-प्रणाली के प्रादुर्भाव का भी सार्वजनिक व्यय की वृद्धि में योगदान रहा है। जनतंत्रीय शासन-प्रणाली में निर्वाचनों तथा विधान-मण्डल पर बड़ी मात्रा में व्यय होता है। 'जनता की, जनता द्वारा और जनता के लिये' सरकार को जन-कल्याण के सभी कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं। सत्तारूढ़ दल 'जनमत' अपने पक्ष में करने के लिये, जनता के लिये सभी सुख-सुविधायें जुटाने का प्रयास करता रहता है। कभी-कभी विरोधी दलों का मुँह बन्द करने के लिये सत्तारूढ़ दल को अनावश्यक व्यय भी करना पड़ता है।

(7) राष्ट्रीय आय में वृद्धि- विगत वर्षों में पुनर्निर्माण और आर्थिक-विकास के कारण लगभग सभी देशों की राष्ट्रीय आय और सम्पन्नता बढ़ी है। फलतः न केवल सरकार जनता से प्रचुर मात्रा में आय प्राप्त कर लेने में समर्थ हो गई है, अपितु जनता भी सरकार से अपने लिये अधिक सुख-सुविधाओं की माँग करने लगी है। इस प्रकार, नागरिकों की करदान-

क्षमता में वृद्धि तथा राज्य की बढ़ती हुई सम्पन्नता के कारण सार्वजनिक व्यय की मात्रा में वृद्धि हुई है।

(8) **कल्याणकारी राज्य की धारणा का उद्गम–** 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से समाजवादी भावना के विकास तथा कल्याणकारी राज्य की धारणा के उद्गम के फलस्वरूप राज्य के कार्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है। आजकल राज्य पर अपने नागरिकों के जीवन-संचालन और विकास का पूरा उत्तरदायित्व है, अतः न केवल आर्थिक क्षेत्र में राजकीय हस्तक्षेप बढ़ रहा है, अपितु समाज में फैले दुराचार को रोकने का दायित्व भी सरकार ने अपने ऊपर ले लिया है। सामाजिक सुरक्षा तथा कल्याणकारी कार्यों के रूप में आजकल प्रत्येक देश की सरकार ने बेकारी-बीमा, स्वास्थ्य-बीमा, वृद्धावस्था-पेन्शन, प्रसव-लाभ, बीमारी-बीमा, निःशुल्क शिक्षा और चिकित्सा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया है। इन सब कार्यों को सम्पन्न करने के कारण सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हुई है।

(9) **उद्योगों का समाजीकरण–** समाजवादी भावना के प्रसार के कारण आजकल सार्वजनिक उपक्रम का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है। प्रमुख पूँजीवादी देशों में भी अनेक आवश्यक एवं सुरक्षा-सम्बन्धी उद्योगों का स्वामित्व और संचालन सरकार के हाथ में है। विकासशील देशों के नियोजित विकास में तो सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सरकार द्वारा निजी उद्योगों को अपने अधिकार में लेने के कारण सार्वजनिक व्यय के आकार में वृद्धि हुई है।

(10) **आर्थिक-नियोजन–** आर्थिक-नियोजन की धारणा बीसवीं शताब्दी की उत्पत्ति है। समाजवादी अर्थव्यवस्था का तो नियोजन प्रमुख लक्षण होता ही है, मिश्रित अर्थव्यवस्था में भी आर्थिक-नियोजन की नीति अपनाई जाती है। आर्थिक-नियोजन की केन्द्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न विकास परियोजनायें पूरी करने के लिये बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता होती है। विकास-नियोजन के अन्तर्गत सार्वजनिक व्यय की मात्रा स्वाभाविक रूप से बढ़ जाती है।

(11) **उत्पादकों को आर्थिक सहायता–** आजकल सरकार ने छोटे-छोटे उत्पादकों को प्रोत्साहित करने के लिये विभिन्न प्रकार की आर्थिक सहायता देना शुरू कर दिया है, जैसे-सस्ता और सुलभ ऋण, उपदान आदि। इससे सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हुई है।

प्रश्न–5. सार्वजनिक व्यय के उत्पादन और वितरण पर आर्थिक प्रभावों की विवेचना कीजिये।

अथवा

उत्पादन तथा वितरण पर सामाजिक व्यय के प्रभावों का परीक्षण कीजिये। (या विवेचना कीजिये)

अथवा

सार्वजनिक व्यय क्या है? इसके प्रभावों का वर्णन कीजिये।

अथवा

राजकीय व्यय का उत्पादन एवं वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है?

अथवा

सार्वजनिक–व्यय के उत्पादन, उपभोग तथा वितरण पर प्रभाव बतलाइये।

अथवा

सार्वजनिक व्यय का उत्पादन एवं वितरण पर प्रभाव स्पष्ट कीजिये।

अथवा

किसी देश की अर्थव्यवस्था पर सार्वजनिक व्यय के प्रभावों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– सार्वजनिक व्यय (लोक–व्यय) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है। सार्वजनिक–व्यय द्वारा देश में विभिन्न साधनों और प्रयोगों का सर्वोत्तम विदोहन होता है। विकासशील राष्ट्रों के उत्पादन में वृद्धि, वितरण में सुधार तथा आर्थिक–स्थिरता सार्वजनिक–व्यय द्वारा प्राप्त की जा सकती है। सार्वजनिक–व्यय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों रूपों से अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित करता है। लोकोपयोगी कार्यों पर किया गया व्यय प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में वृद्धि करता है जबकि सुरक्षा पर किया गया व्यय परोक्ष रूप से उत्पादन–वृद्धि की गारन्टी देता है। सार्वजनिक–व्यय के प्रभाव अलग–अलग क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में देखे जा सकते हैं–

(1) **उत्पादन पर सार्वजनिक–व्यय का प्रभाव–** उत्पादन सार्वजनिक–व्यय के कारण बढ़ता है। यद्यपि कभी–कभी सार्वजनिक–व्यय का गलत दिशाओं में प्रयोग बुरे परिणाम भी उत्पन्न करता है। साधारण रूप से सार्वजनिक–व्यय निम्नलिखित तीन रूपों में उत्पादन को प्रभावित करता है–

(अ) **कार्य करने तथा बचत करने की क्षमता पर प्रभाव–** कार्य करने की तथा बचत की क्षमता में सार्वजनिक–व्यय से वृद्धि होती है, जिससे उत्पादन बढ़ता है। प्रत्यक्ष सहायता, अनुदान, भत्ते, पेन्शन देकर निम्न आय वर्ग की क्रयशक्ति में वृद्धि उत्पादन को बढ़ाने में मदद करती है। इसी प्रकार शिक्षा, चिकित्सा, संचार व परिवहन पर किया गया व्यय परोक्ष रूप से उत्पादन–कुशलता में वृद्धि करता है। ऐसी सेवाओं पर किया गया व्यय निर्धन–वर्ग की उत्पादन–क्षमता में वृद्धि करता है। इससे उनकी कार्य–कुशलता बढ़ती है जो उनकी आय या क्रयशक्ति बढ़ाने में सहायक होती है। उनके जीवन–स्तर में सुधार, अच्छा स्वास्थ्य उनकी कार्यक्षमता तथा साथ ही साथ बचतों को बढ़ाता है। परन्तु कुछ परिस्थितियों में सम्भव है कि सार्वजनिक–व्यय से उनकी कार्यक्षमता तथा बचतें बुरे रूप से प्रभावित हों। जैसे प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता या नकद पैसे का प्रयोग मदिरापान, मनोरंजन या जुआ खेलने के लिये करें। इससे उनमें आलसीपन और उदासीनता उत्पन्न होगी। वे अपनी बचतें न कर पैसे से फिजूलखर्जी करें। किन्तु सरकारी सहायता नकद रूप में न देकर या एकमुश्त न देकर वस्तुओं और सेवाओं के रूप में धीरे–धीरे दी जावें तब सार्वजनिक–व्यय का दुरुपयोग रोका जा सकता है।

(ब) **कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव–** कार्य करने तथा बचत करने की इच्छायें भी सार्वजनिक–व्यय करके बढ़ाई जा सकती हैं। परन्तु यह सार्वजनिक–व्यय की प्रकृति और शर्तों पर निर्भर होगा। अच्छा काम करने पर पुरस्कार, भविष्य में वेतन–वृद्धि या पेंशन की योजनायें कार्य–कुशलता की इच्छा पैदा करेंगी या बचत को प्रोत्साहित करेंगी। इसके विपरीत बिना शर्त किया गया व्यय उनमें उदासीनता पैदा करता है। अतः बीमारी सहायता, दुर्घटना लाभ आदि उसकी इच्छा–शक्ति को तभी बढ़ावेंगे जब वे सशर्त हों और ईमानदारी से दिये जावें।

अनुदान देते समय यह देखा जाना चाहिये कि श्रमिकों की कार्य करने की इच्छा–शक्ति सशक्त है या आराम करने की। अतः सार्वजनिक व्यय की प्रकृति और प्रयोग व्यक्ति के कार्य करने या बचत करने की इच्छा को अच्छे या बुरे रूप से प्रभावित करेगा। अतः सार्वजनिक–व्यय का प्रयोग अत्यन्त सावधानी–पूर्वक किया जाना चाहिये।

(स) आर्थिक साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव– आर्थिक साधनों का स्थानान्तरण सार्वजनिक व्यय द्वारा निम्नलिखित दो तरीकों से उत्पादन को प्रभावित करता है–

(1) साधनों का प्रत्यक्ष स्थानान्तरण– जब सरकार बचत को अपने माध्यम से ऐसे कार्यों में लगाती है जो कार्य व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये सुरक्षा पर व्यय। इसी प्रकार शान्ति और प्रशासन के लिये नागरिक–व्यय उत्पादन के वातावरण का निर्माण करता है। इसी प्रकार सामाजिक कल्याण के अन्तर्गत व्यय से श्रमिक की कार्य–कुशलता में वृद्धि होती है, इससे उत्पादन बढ़ता है। आजकल सरकार उद्योगों की स्थापना, तकनीकी मदद आदि पर व्यय कर साधनों का सदुपयोग कर उत्पादन बढ़ाने में मदद करती है। परोक्ष हस्तान्तरण के अन्तर्गत यातायात के साधनों का विस्तार, बिजली की व्यवस्था जैसी लोकोपयोगी सेवाओं पर व्यय कर सरकार उद्योगों के स्थानीयकरण या केन्द्रीयकरण में मदद कर औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने व लागत कम करने में मदद करती है। अविकसित देशों में साधनों का स्थानान्तरण विशेष महत्व रखता है, क्योंकि इन क्षेत्रों का विकास करना होता है। वहां आधारभूत सुविधायें देकर औद्योगीकरण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इसी प्रकार जिन क्षेत्रों में औद्योगीकरण हो चुका है उनमें अधिक कर लगाकर या सुविधाओं का शुल्क लेकर साधनों को वहाँ से हटाया जा सकता है।

(2) उपभोग पर सार्वजनिक व्यय का प्रभाव– अर्थशास्त्र की क्रियाओं का आरम्भ तथा अन्त उपभोग के साथ होता है। सार्वजनिक–व्यय के द्वारा लोगों को रोजगार मिलता है, क्रय–शक्ति में वृद्धि होती है और जीवन–स्तर में सुधार होता है। जब सरकार उत्पादन के लिये अनुदान देती है, तब उत्पादन अधिक करने में मदद मिलती है। इससे वस्तु का मूल्य कम होकर, उसकी मांग में वृद्धि होती है। इससे उपभोग बढ़ता है। इसी प्रकार सरकारी कर्मचारियों की कल्याण योजनाओं पर व्यय उनकी क्रय–शक्ति को बढ़ाकर उपभोग में वृद्धि करता है। इसी कारण कीन्स ने मन्दीकाल में अधिक सार्वजनिक–व्यय कर उपभोग–स्तर को बनायें रखने की सलाह दी है। क्योंकि मन्दीकाल में निजी विनियोग की कमी को 'क्षतिपूरक वित्त' की क्रियाओं द्वारा सार्वजनिक–व्यय से पूरा किया जा सकता है। इससे रोजगार आय में वृद्धि होकर उत्पादन की माँग बनती है और निवेश के लिये क्षेत्र तैयार होता है। परन्तु यदि सार्वजनिक–व्यय अनावश्यक कार्यों जैसे– विलासिता पदार्थों के उत्पादन आदि पर होगा, तब इसका बुरा प्रभाव उपभोग पर अवश्य होगा। व्यक्ति अपना व्यय विलासिताओं पर करेंगे, साधनों का स्थानान्तरण आवश्यक आवश्यकताओं के उत्पादन से हटकर अन्यत्र होगा, जो अर्थव्यवस्था के लिये उचित नहीं होगा।

(3) सार्वजनिक–व्यय का वितरण पर प्रभाव– आधुनिक अर्थशास्त्री सार्वजनिक–व्यय का प्रयोग धन तथा सम्पत्ति के समान वितरण हेतु भी करने के पक्ष में हैं। इस हेतु सार्वजनिक–व्यय को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

(अ) प्रगतिशील–व्यय– ऐसा सार्वजनिक–व्यय जो निर्धनों या कम आय वाले व्यक्तियों की क्रय–शक्ति बढ़ाने में सहायक हो सके। जैसे– निःशुल्क चिकित्सा या शिक्षा पर किये जाने वाला व्यय। ऐसे व्यय निर्धनों की आय–वृद्धि में सहायक होते हैं।

(ब) आनुपातिक–व्यय– ऐसा सार्वजनिक–व्यय जो धन तथा सम्पत्ति के अनुपात के अनुसार ही समाज के विभिन्न वर्गों को लाभ दे। जैसे– चिकित्सा भत्ता विभिन्न वेतन वर्गों को

उनके आय– अनुपात अनुसार कम या अधिक मिलना। इससे उनकी आर्थिक स्थिति यथावत् रहती है।

(स) प्रतिगामी–व्यय– ऐसा सार्वजनिक–व्यय जो धनी पर अधिक तथा निर्धन पर कम कर उनकी असमानताओं को बनाये रखता है। अतः सार्वजनिक–व्यय अगर प्रगतिशील तरीके से किया जाता है तब उसका धन, सम्पत्ति तथा आय के वितरण पर अच्छा प्रभाव होता है, अन्यथा बुरा। सार्वजनिक–व्यय जितना अधिक प्रगतिशील होगा, आर्थिक–असमानतायें कम करने में उतना ही अधिक सहायक होगा। अतः सार्वजनिक–व्यय प्रगतिशील तरीके से कर अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं, जबकि प्रतिगामी या आनुपातिक तरीके का सार्वजनिक–व्यय आर्थिक विषमताओं को अधिक बढ़ाने वाला होता है।

प्रगतिशील–व्यय के रूप या प्रकार– प्रगतिशील–व्यय कई प्रकार से किया जा सकता है–

(1) **नकद सहायता देकर–** वृद्धावस्था पेन्शन, मातृत्व लाभ, दुर्घटना लाभ, बीमारी में सहायता या बेरोजगारी भत्ता नकद रूप में देकर निर्धन–वर्ग की क्रयशक्ति में वृद्धि की जा सकती है। इसके लिये समय–समय पर सार्वजनिक–व्यय किया जा सकता है।

(2) निःशुल्क अथवा सस्ती वस्तुयें तथा सेवायें देकर सरकार सस्ते मूल्य की दुकानों से निर्धन–वर्गों के लिये निश्चित मात्रा में वस्तुयें उपलब्ध कराते हुये या निःशुल्क शिक्षा, चिकित्सा, मकान देकर कुछ वर्गों की क्रय–शक्ति–वृद्धि में योग कर सकती है। इससे ऐसे वर्गों को जिनकी आय कम है ऊँची आय के मुकाबले समान सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। कम आय वाले वर्गों की वास्तविक आय में वृद्धि कर धन, आय तथा सम्पत्ति की समानता सार्वजनिक व्यय द्वारा स्थापित की जा सकती है।

परन्तु उत्पादन की दृष्टि से इस प्रकार के व्यय का प्रतिकूल प्रभाव भी हो सकता है। आय तथा सुविधाओं के बढ़ने के कारण लोगों के कार्य करने की तथा बचत करने की शक्ति और इच्छा पर बुरा प्रभाव भी हो सकता है। ऐसे व्ययों को पूरा करने के लिये जब अधिक कर लगाये जाते हैं, तब बचतें कम होने लगती हैं। इसे 'निर्धनता' का वितरण कहा जा सकता है। परन्तु करारोपण करते समय उत्पादन पर विपरीत प्रभाव न पड़े इसका ध्यान सरकार रखकर कुछ समय के लिये निर्धनों पर उदार–व्यय तथा धनिकों पर अधिक करारोपण कर सकती है।

प्रश्न–6. उत्पादन तथा वितरण में सार्वजनिक व्यय के प्रभावों की विवेचना कीजिये। सार्वजनिक व्यय आर्थिक स्थायित्व लाने में कहाँ तक सहायक हो सकता है?

अथवा

सार्वजनिक व्यय के उत्पादन तथा वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना कीजिये।

अथवा

किसी देश में आय और धन के न्यायोचित वितरण में सार्वजनिक व्यय कहाँ तक सहायता कर सकता है? उपयुक्त उदाहरण देकर समझाइये।

उत्तर– सार्वजनिक व्यय के प्रभावों का अध्ययन करने के पूर्व प्रो. डाल्टन के इस कथन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। उन्होंने कहा है कि, 'कराधान तो ऐसा होना चाहिये कि जो उत्पादन में न्यूनतम कमी करे और सरकारी व्यय इस प्रकार का होना चाहिये जो उत्पादन में अधिकतम वृद्धि करे, बशर्ते कि अन्य बातें समान रहें।' अतः सार्वजनिक व्यय के प्रभावों का अध्ययन उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों के रूप में मुख्य है। इसके लिये हमें विभिन्न कसौटियों पर परीक्षण करना होगा–

(1) काम करने, बचत करने तथा निवेश करने की योग्यता पर प्रभाव।

(2) कार्य करने, बचत करने तथा निवेश करने की इच्छा पर प्रभाव।

(3) विभिन्न साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव।

सार्वजनिक व्यय की प्रकृति और व्यय करने की प्रणाली पर यह निर्भर होता है कि उसका अनुकूल प्रभाव पड़े या प्रतिकूल। इसका क्रमशः अध्ययन करना होगा कि कब, किस प्रकार का प्रभाव है–

(1) कार्य करने, बचत करने तथा निवेश करने की सामर्थ्य पर प्रभाव– यदि लोक–व्यय के फलस्वरूप नागरिकों की कार्य करने की शक्ति या कुशलता में वृद्धि होती है तब निश्चित ही उत्पादन बढ़ेगा। शिक्षा, चिकित्सा सेवाओं, परिवहन व संचार सुविधाओं, सस्ते मकान आदि पर व्यय कर सरकार व्यक्तियों की गतिशीलता और कार्य क्षमता को बढ़ाने में मदद करती है। विशेषरूप से निःशुल्क शिक्षा तथा चिकित्सा का प्रबन्ध निर्धनों की क्रय शक्ति में वृद्धि करता है, जिनकी उपभोग प्रवृत्ति अधिक होती है, अतः उत्पादन करने की शक्ति में वृद्धि होगी। इसी प्रकार मनोरंजन के साधनों पर व्यय करने से श्रमिकों का स्वास्थ्य और कार्य शक्ति प्रभावित होती है, जिस पर वे व्यय नहीं कर सकते, वे साधन उन्हें निःशुल्क मिल जाते हैं, मातृत्व लाभ, वृद्धावस्था पेंशन, पारिवारिक भत्ते तथा बच्चों के लिये पौष्टिक आहार की व्यवस्था पर किया गया व्यय सामर्थ्य को बढ़ाता है। इसी प्रकार जिन नागरिकों की सार्वजनिक व्यय द्वारा आय बढ़ती है, वे अधिक बचत तथा निवेश करते हैं क्योंकि उनकी आय में वृद्धि हो जाती है।

विनियोग में वृद्धि– इसी प्रकार बचत बढ़ने से विनियोग बढ़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त निजी उद्योगों को सहायता तथा अनुदान देकर उनकी विनियोग क्षमता में वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार सार्वजनिक–व्यय सामर्थ्य में वृद्धि करता है चाहे वह कार्य करने, बचत करने या विनियोग करने की किसी भी प्रकार की शक्ति हो तथापि यह एक दुधारा अस्त्र है, इसका प्रयोग यदि असावधानीपूर्वक किया गया तो यह नुकसानदेह भी हो सकता है।

अतः इसका प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिये। यदि राज्य नगद प्रत्यक्ष मौद्रिक सहायता देता है तब नागरिक इसे जुये, शराब में व्यय कर सकते हैं जो कार्य शक्ति को नष्ट कर सकते हैं अथवा बचतें व विनियोग कम कर सकते हैं। इसी प्रकार सरकार यातायात, संचार व सस्ते मकान बनाने के स्थान पर शराबघरों, फिल्म स्टूडियो, होटल खोलने पर व्यय करे तब साधनों का स्थानान्तरण कार्य करने की शक्ति, बचत की शक्ति तथा विनियोग शक्ति पर बुरा प्रभाव डालेगा। अतः व्यय इस प्रकार किया जाना चाहिये जिससे सम्पूर्ण समुदाय लाभान्वित हो।

(2) कार्य करने, बचत करने तथा विनियोग करने की इच्छा पर प्रभाव– सरकार की नीति, व्यय की प्रकृति तथा उस प्रणाली पर कार्य की इच्छा–शक्ति निर्भर करती है जो सरकार लोक व्यय करते समय, समय–समय पर अपनाती है। उदाहरण के लिये– वृद्धावस्था पेन्शन, सामाजिक सुरक्षा योजनायें, बीमारी और वृद्धावस्था में सहायता बचत करने की इच्छा जागृत करते हैं क्योंकि सरकार के इस प्रकार के कार्य नागरिकों को भावी निश्चिन्तता प्रदान करते हैं। किन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि वर्तमान व्यय से नागरिकों की आय में वृद्धि होने से वे कम कार्य करके ही पर्याप्त धन कमा लेते हैं और अधिक आय के लिये इच्छा नहीं रखते।

किन्तु इस सम्बन्ध में अन्य अर्थशास्त्रियों का भिन्न मत है, उनके अनुसार व्यक्ति का ऊंचा जीवनस्तर उसे अधिक प्रगतिशीलता की ओर ले जाने के कारण अधिक काम करने की इच्छा जागृत कर देता है। इससे व्यक्तियों में अधिक कार्य करने जिससे अधिक आय प्राप्त हो सके और अधिक बचत कर सके, इसकी इच्छा जागृत होती है।

इसी प्रकार सार्वजनिक भावी व्यय के बारे में लोगों की यह धारणा है कि सरकार तो भविष्य का व्यय करके आगे लाभ देगी ही, नागरिक वर्तमान में अधिक व्यय नहीं करना चाहते है। इसी प्रकार सामाजिक सहायता केवल विकलांग व असहायों को दी जावेगी या वृद्धों को उनकी बचत के अनुसार उनको पेन्शन मिलेगी। यह भावी सहायता वर्तमान के नागरिकों में असन्तोष उत्पन्न करती है, परन्तु इस प्रकार के व्यय व्यावहारिक नहीं कहे जा सकते। इसका बचत तथा विनियोग करने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(3) आर्थिक साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव– आर्थिक साधनों का स्थानान्तरण सार्वजनिक व्यय के बाद दो तरीके से होता है– (i) साधनों का प्रत्यक्ष स्थानान्तरण, (ii) साधनों का परोक्ष स्थानान्तरण।

अप्रत्यक्ष स्थानान्तरण में राज्य सार्वजनिक व्यय करके यद्यपि धन का उपयोग स्वयं नहीं करता तथापि नागरिकों में इस बात की रुचि उत्पन्न कर देता है ताकि वे अपने धन या निवेश के स्वरूप को बदल दें। सड़कों, रेल आदि पर होने वाले सार्वजनिक व्यय से साहसी अपने निवेश के क्षेत्र बदल देते हैं। वे ऐसे स्थानों पर उद्योग लगाना या व्यापार करना आरम्भ कर देते हैं जहाँ अच्छी सड़कें या रेलों की पहुंच है। इसका मुख्य कारण यह है कि रेल, सड़कों की सहायता से माल आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सकता है। इसी प्रकार जल–विद्युत के विकास से पूँजी निवेश लघु उद्योगों के स्थान पर बड़े उद्योगों में होने लगता है। इसी प्रकार सरकार के कुछ व्यय उत्पत्ति के साधनों को वर्तमान उपयोगों की अपेक्षा भावी उपयोगों में लगाना श्रेयस्कर बनाते हैं।

सड़क, रेल्वे, विद्युत तथा सिंचाई पर किया गया व्यय देश की स्थायी पूंजी में वृद्धि करता है और भावी उत्पादन शक्ति का विकास करता है। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मानव–पूंजी में अपेक्षाकृत कम विनियोग होता है क्योंकि लाभ की मात्रा पूंजीगत विनियोग से बढ़ती है। किन्तु प्रो. हेन्सन का कहना कुछ भिन्न अर्थ रखता है। उनके अनुसार, "जब सरकार स्वास्थ्य, मकानों व सामाजिक सुरक्षा पर व्यय करती है या बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करती है, तब यह एक महत्वपूर्ण विनियोग होता है, जो भौतिक पूँजी के स्थान पर मानव–पूंजी का निर्माण करता है।" कभी–कभी सरकार अपने व्यय द्वारा साधनों का स्थानान्तरण एक स्थान से दूसरे स्थान को करना चाहती है।

जैसे– म.प्र. की सरकार आदिवासी जिलों या क्षेत्र बस्तर की ओर साधनों को स्थानान्तरित करने के लिये अधिक से अधिक सार्वजनिक विनियोग उस क्षेत्र में कर रही है।

जहाँ तक प्रत्यक्ष स्थानान्तरण का प्रश्न है सरकार सार्वजनिक विनियोग सुरक्षा, नागरिक प्रशासन और समाज सेवाओं पर कर साधनों को प्रत्यक्ष तरीके से ऐसे क्षेत्रों मे जाने को बाध्य कर देती है ताकि साहसी अपना विनियोग सुरक्षा के क्षेत्रों में करें। प्रायः सार्वजनिक व्यय का धन के उत्पादन पर अच्छा ही प्रभाव पड़ता है। जैसाकि प्रो. हैन्सन ने लिखा है, "सार्वजनिक व्यय को प्राथमिकता देने का एक सबसे प्रमुख कारण यह है कि हमारे समाज की बहुत–सी

शोषण कमियों और बुराइयाँ तब तक दूर नहीं हो सकतीं जब तक कि सरकार सार्वजनिक सुधार एवं विकास कार्यों पर काफी धन व्यय नहीं करती।"

अतः अपवादों को छोड़कर सार्वजनिक व्यय के उत्पादन पर अच्छे प्रभाव ही होते हैं।

सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव– डॉ. डैल्टन ने कहा है कि, "लोक-कल्याण में वृद्धि वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन बढ़ाकर की जा सकती है, किन्तु यदि यह सम्भव न हो तो लोक कल्याण की वृद्धि राष्ट्रीय लाभांश के वितरण के द्वारा समाज में धन की असमानता को दूर करके भी की जा सकती है। कोई भी ऐसा कार्य जो निर्धनों की वास्तविक आय के कुल भाग में वृद्धि करता हो, बशर्ते किसी भी दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आय के आकार में कमी न आने पावे, सामान्यतः आर्थिक कल्याण में वृद्धि करेगा।"

सरकार वितरण की असमानता दो प्रकार से दूर कर सकती है–

(i) करारोपण द्वारा– धनिकों पर भारी करारोपण कर उनकी क्रय-शक्ति व बचत शक्ति को कम करे।

(ii) सार्वजनिक व्यय द्वारा– निर्धनों को निःशुल्क सेवायें प्रदान कर या प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता कर उनकी आय व बचत शक्ति में वृद्धि करे। करारोपण की तरह सार्वजनिक व्यय भी प्रतिगामी, आनुपातिक तथा प्रगतिशील हो सकता है।

(i) प्रतिगामी व्यय द्वारा सरकार कम आय वालों पर व्यय भी कम करती है जैसे- प्राथमिक शिक्षा के स्थान पर उच्च शिक्षा पर अधिक व्यय कर धनिक वर्ग को अधिक लाभ पहुंचाना।

(ii) आनुपातिक व्यय– यदि विभिन्न वर्गों की आय के अनुपात में ही सरकार सार्वजनिक व्यय करती है तब धन की असमानता यथावत् बनी रहती है।

(iii) प्रगतिशील व्यय– कम आय वालों पर अधिक सार्वजनिक व्यय करके उनकी आय बढ़ाना तथा अधिक आय वालों पर कम व्यय करना। इससे निर्धन वर्ग की क्रय शक्ति बढ़ेगी।

निःशुल्क चिकित्सा, कम मूल्य पर वस्तुओं की उपलब्धि, शिक्षा तथा वृद्धावस्था पेंशन द्वारा सरकार प्रगतिशील व्यय कर सकती है। सार्वजनिक व्यय वितरण सम्बन्धी असमानताओं को बड़ा घटाकर अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है।

लघूत्तरीय प्रश्नोत्तर

प्रश्न–(1) सार्वजनिक व्यय का आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर– सार्वजनिक व्यय का आर्थिक जीवन पर प्रभाव– सार्वजनिक व्यय के अनुप्रयोग से देश के आर्थिक जीवन पर निम्न प्रभाव पड़ते हैं–

(1) **उत्पादन एवं वितरण**– समाज में होने वाले उत्पादन को उचित के साथी लाभों में व्यापपूर्ण ढंग से वितरित करना आवश्यक है। यह वितरण लोक-व्यय द्वारा प्रभावित किया जा सकता है।

(2) **विनियोग**– सार्वजनिक व्यय विनियोग क्रियाओं को प्रभावित करता है। सरकार आवश्यकता के अनुरूप विदेशी निर्यात एवं आयात पर अनुदान देती है जिससे वस्तुओं का लेन देन बढ़ जाता है।

(3) **उपभोग**– सार्वजनिक व्यय उपभोग को उत्तेजित तथा निरुत्साहित करता है। अनुदान दिये जाने पर मूल्य गिरकर मांग में वृद्धि हो जाती है परिणामतः उपभोग बढ़ जाता है। इसी प्रकार सरकार द्वारा वेतन व मजदूरी भत्ता बढ़ाने पर दुर्बल वर्ग को सामाजिक कल्याण के भाव से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है और उपभोक्ता

की उपभोग शक्ति बढ़ जाती है। इनको बन्द करने से उपभोग की मात्रा गिर जाती है।

प्रश्न–(2) सार्वजनिक व्यय से क्या आशय है?

उत्तर– सार्वजनिक सत्ताधारियों अथवा लोक अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले व्यय को सार्वजनिक व्यय कहते हैं। लोक अधिकारियों के अन्तर्गत केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सरकार का समावेश किया जाता है। देश के नागरिकों की रक्षा करने अथवा उनके आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण की वृद्धि हेतु किया जाने वाला व्यय सार्वजनिक व्यय कहलाता है।

प्रश्न–(3) सार्वजनिक आय कितने प्रकार की है?

उत्तर– सार्वजनिक आय विस्तृत और संकुचित क्षेत्रों के रूपों में हो सकती है। विस्तृत अर्थ में सार्वजनिक आय के अन्तर्गत राज्य को प्राप्त होने वाली सभी प्राप्तियों को शामिल किया जाता है तथा संकुचित अर्थ में सार्वजनिक आय में केवल उन्हीं प्राप्तियों का समावेश किया जाता है जो सामान्य रूप से आगम के अन्तर्गत आती है।

प्रश्न–(4) सार्वजनिक व्यय एवं निजी व्यय में अन्तर बताइये।

उत्तर– सार्वजनिक व्यय एवं निजी व्यय में अन्तर निम्नलिखित है

सार्वजनिक व्यय	निजी व्यय
(1) सार्वजनिक व्यय के आधार पर सार्वजनिक आय का सम्पादोजन किया जाता है।	(1) किसी आय के आधार पर निजी व्यय का सम्पादोजन किया जाता है।
(2) सार्वजनिक व्यय का क्षेत्र विस्तृत एवं व्यापक है।	(2) निजी व्यय का क्षेत्र व्यक्ति तक ही केन्द्रित होने के लिये सीमित होता है।
(3) सार्वजनिक व्यय में प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता है।	(3) इसमें प्रत्यक्ष लाभ होने की आशा रहती है।
(4) सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण है।	(4) निजी व्यय का उद्देश्य व्यक्तिगत कल्याण होता है।

इकाई-IV

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर

प्रश्न–1. भारत में केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच वित्तीय साधनों के वितरण की वर्तमान व्यवस्था का उल्लेख कीजिये।

अथवा

भारत के संविधान के अनुसार राज्य सरकारों की आय के मुख्य स्रोतों की विवेचना कीजिये।

अथवा

भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्र व राज्य सरकारों के बीच संसाधनों के विभाजन–सम्बन्धी व्यवस्थाओं की चर्चा कीजिये।

अथवा

केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार के मध्य वित्तीय सम्बन्धों का वर्णन कीजिये। साधनों का विभाजन किस आधार पर किया जाता है?

उत्तर– हम जानते है कि भारत में संघीय शासन-व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत शासन का कार्य केन्द्र और राज्यों में बँटा होता है। केन्द्र सरकार केन्द्रीय-स्तर के कार्य करती है जबकि राज्य सरकारों को प्रान्तों की जिम्मेदारी सौंपी गयी है। यह जिम्मेदारी संविधान के अन्तर्गत निर्धारित की गई है। कार्यों के बँटवारे के साथ वित्तीय अधिकारों के निर्धारण की भी आवश्यकता होती है।

संविधान के अन्तर्गत वित्तीय सम्बन्ध– अपने खर्चों को चलाने के लिये तथा संविधान के अन्तर्गत सौंपे गये कार्यों के लिये हर सरकार को धन की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये जनता पर कर व विभिन्न शुल्क लगाये जाते है। अतः प्रश्न उठता है कि कौनसे करों की धनराशि केन्द्र सरकार वसूल करे और कौनसे करों की राज्य सरकार ? इसके लिये संविधान में विभिन्न साधनों से प्राप्त करों की धनराशि का निम्नानुसार बँटवारा किया गया है। यह बँटवारा सातवीं अनुसूची की प्रथम तालिका में दिया गया है जो निम्नानुसार है–

(1) केन्द्र सरकार की आय के स्रोत– केन्द्र सरकार निम्नलिखित स्रोतों से आय प्राप्त कर सकती है– (1) आयात-निर्यात कर, (2) आयकर (कृषि-आय पर कर को छोड़कर), (3) कॉरपोरेशन कर, (तम्बाकू तथा भारत में बनी वस्तुओं (शराब व अन्य नशीली वस्तुओं को छोड़कर) पर उत्पादन-कर, (5) उत्तराधिकारी-कर (कृषि-भूमि को छोड़कर), (6) सम्पत्ति-कर (कृषि-भूमि को छोड़कर), (7) तमाम व्यावसायिक आदान-प्रदानों पर स्टॉम्प कर, (8) रेल, वायु अथवा समुद्र मार्ग द्वारा भेजे जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमा-कर, (9) समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय और इनमें दिये गये विज्ञापनों पर कर, (10) स्टॉक-विनिमय और भावी बाजारों के सौदों पर कर, (11) अफीम पर कर, (12) मुद्रा तथा सिक्के बनाने से आय, (13) डाक-तार, टेलीफोन, बेतार का तार और ब्रोडकास्टिंग से आय, (14) रेलों से आय, (15) समुद्रतटीय जहाजों से आय, (16) वायुयानों से आय, (17) विदेशी ऋण, (18) संघ सरकार की सम्पत्ति से आय, (19) डाकखाना बचत बैंक, (20) संघ का लोक ऋण, (21) भारत का रिजर्व बैंक आदि।

राज्य सरकार की आय के स्रोत– राज्य सरकारें निम्नलिखित स्रोतों से आय प्राप्त कर सकती है– (1) माल-गुजारी, (2) कृषि-आय पर कर, (3) भूमि तथा इमारतों पर कर, (4) कृषि-भूमि पर उत्तराधिकारी कर, (5) देशी शराब, अफीम और अन्य नशीली वस्तुओं पर उत्पादन कर, (6) बिक्री-कर, (7) मनोरंजन कर, (8) विकास वस्तुओं, सट्टेबाजी तथा जुओं पर कर, (9) स्टॉम्प-कर, (10) रजिस्ट्रेशन, बिजली के उपभोग अथवा विक्रय पर कर, (11) गाड़ियों पर कर, (12) पशुओं और नावों पर कर, (13) व्यापार, पेशों, कार्यों और नौकरियों पर कर, (14) मार्ग-कर, (15) समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय पर कर, (16) खनिज पदार्थों के अधिकार पर कर, (17) सिंचाई से आय, (18) चुंगी-कर, (19) विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर आदि।

इसके अतिरिक्त यहाँ विधान में दिये गये निम्नलिखित आदेश महत्वपूर्ण है–

1. निम्नलिखित कर केन्द्र द्वारा लगाये तथा एकत्र किये जायेंगे परन्तु इनकी शुद्ध आय राज्यों में बांटी जायेगी–

(1) कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पत्ति-कर,
(2) रेल, वायु, समुद्र मार्ग से ले जाये गये माल व मुसाफिरों पर सीमा-कर,
(3) रेल-भाड़े तथा किराये पर कर,
(4) समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय और उनमें छपने वाले विज्ञापनों पर कर,
(5) स्टॉक-विनिमय तथा भावी बाजारों के सौदों पर कर, अन्तर्राज्यीय व्यापार में सम्मिलित वस्तुओं पर बिक्री कर।

2. **आयकर (कृषि आय छोड़कर)–** केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया तथा एकत्रित किया जायेगा परन्तु इसकी आय केन्द्र राज्यों में बाँटी जायेगी। यहाँ आयकर में कॉरपोरेशन-कर तथा अधिक-कर, सुपर-कर शामिल नहीं होंगे।
3. केन्द्रीय सरकार मद (1) और (2) में दिये गये करों पर अधिभार लगा सकती है। इस अधिभार की सभी आय केन्द्र को ही मिलेगी।
4. संसद यदि चाहे तो यह नियम बना सकती है कि किसी भी उत्पादन-कर को केन्द्र लगाये और एकत्र करे और इससे प्राप्त शुद्ध आय को पूर्णतया/ अंशतया राज्यों में बांट दे।
5. पटसन पर निर्यात-कर की आय पूर्णतया केन्द्र को ही मिलेगी। अतः पहले की भांति भविष्य में पटसन पैदा करने वाले राज्यों को इस कर का कोई भाग नहीं मिलेगा।
6. बिक्री-कर राज्य सरकारों द्वारा ही लगाया जावेगा और एकत्र किया जावेगा। परन्तु केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार है कि वह सारे देश में बिक्री-कर को समान करने के लिये राज्य सरकारों को आवश्यक आदेश दे।
7. विधान के लागू होने के दो वर्ष के भीतर तथा इसके पश्चात् हर पाँच वर्ष बीतने पर या यदि राष्ट्रपति आवश्यक समझे तो इसके पूर्व एक वित्त आयोग की नियुक्ति की जावेगी।
8. **वे कर जो केन्द्र द्वारा लगाये जाते हैं किन्तु राज्यों द्वारा वसूल किये जाते हैं–** संविधान की धारा 268 में यह व्यवस्था की गई है कि स्टॉम्प-शुल्क, दवाइयाँ तथा सौन्दर्य-प्रसाधनों की वस्तुओं पर लगने वाला उत्पादन-कर केन्द्र सरकार द्वारा लगाया जावेगा किन्तु इनकी वसूली राज्य सरकारें करेंगी और यही उन्हीं के आय के साधन माने जावेंगे।
9. **सहायक अनुदान–** संविधान की धारा 282 में भी केन्द्र अथवा राज्य सरकारों द्वारा अनुदान दिये जाने का उल्लेख किया गया है। ये अनुदान उन विशेष कार्यों के लिये दिये जा सकते है जो केन्द्र या राज्य सरकारों के अधिकार-क्षेत्र में है।

इस प्रकार भारतीय संविधान में केवल आय के साधनों का बंटवारा राज्य तथा संघ के बीच कर दिया गया है। दोनों की वित्तीय स्थिति में संतुलन स्थापित करने के उद्देश्य से राजस्व-प्रणाली को लोचदार बना दिया है।

प्रश्न–2. बजट की अवधारणा को समझाइये तथा बजट के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिये।

अथवा

बजट से क्या आशय है? बजट के प्रकार बताइये।

अथवा

बजट को परिभाषित कीजिये तथा बजट का महत्व अथवा लाभ बताइये।

अथवा

बजट के विभिन्न प्रकार लिखिये और घाटे के बजट को विस्तार से समझाइये।

उत्तर– बजट का आशय एवं परिभाषा– किसी भी व्यावसायिक संस्था की लाभदायकता व शोध्यक्षमता बनाये रखने के लिये प्रबन्ध को भावी वित्तीय आवश्यकताओं के सम्बन्ध में योजना बनानी चाहिये। भावी वित्तीय आवश्यकताओं के सम्बन्ध में योजना बनाने की विधि को भी बजटिंग कहते है और योजना को औपचारिक ढग से लिखित रूप में प्रस्तुत करने पर 'बजट' कहते है। वस्तुतः (व्यावसायिक परिस्थितियो के सम्बन्ध में प्रयोग करने पर) बजटिंग का अर्थ बजट योजना व तैयारी बजटरी कण्ट्रोल व अन्य सम्बन्धित विधियों से होता है। बजटिंग वास्तव में एक प्रबन्धकीय विधि है और एक व्यापारिक बजट ऐसी लिखित योजना है, जिसमे भविष्य की एक निश्चित अवधि के सम्बन्ध में व्यवसाय संचालन के सभी पहलुओं को शामिल किया जाता है। यह किसी संस्था के उच्च स्तरीय प्रबन्ध द्वारा भविष्य के सम्बन्ध में अपनायी गयी नीति, योजना, उद्देश्य और गन्तव्य का औपचारिक कथन मात्र है। इस प्रकार हम कह सकते है कि बजट एक औजार है, जो प्रबन्ध द्वारा भावी क्रियाओं के सम्बन्ध में योजना बनाने के लिये प्रयोग किया जाता है।

परिभाषा

1. हेरी एन.विली के शब्दों में– 'बजट निर्मित उत्पाद है, वे भावी संचालन क्रियाओं व अनुमानित परिणामों के औपचारिक प्रोग्राम होते हैं। बजट वास्तव में भावी दूरदर्शिता व योजना के परिणाम होते हैं।'

2. बारस्टीजन ने बजट को इस प्रकार परिभाषित किया है, 'किसी व्यावसायिक संस्था की उच्चतम दक्षता स्तर पर निर्धारित संचालन क्रियाओं को अधिकृत योजना से सम्बन्धित विस्तृत पूर्वानुमान को बजट कहते हैं।'

3. जॉर्ज आर. टेरी के अनुसार, 'बजट भविष्य की आवश्यकताओं का अनुमान है, जो एक उपक्रम की एक समय की निश्चित अवधि के लिये कुछ अथवा सभी गतिविधियों को सम्मिलित करता हुआ क्रमबद्ध आधार के अनुसार व्यवस्थित है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि बजट एक ऐसा विस्तृत लेखा–जोखा है जिसमें एक निश्चित अवधि मे पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये उस अवधि से पूर्व बनाया जाता है। बजट संस्था की उपलब्धियों को मापने के लिये आधार प्रस्तुत करता है।

बजट का महत्व अथवा लाभ– बजट प्रमुख रूप से प्रबन्ध की नियोजन समन्वय एवं नियन्त्रण सम्बन्धी क्रियाओं में सहयोग प्रदान करता है। बजट के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

1. **पूर्व नियोजन का लाभ–** बजट प्रणाली के अन्तर्गत बजट काल प्रारम्भ होने से पूर्व ही व्यवसाय की नीतियों एवं कार्यक्रमों पर विचार किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप
   भविष्य के लिये योजनायें बनाने में सहायता मिलती है।
2. **व्यावसायिक क्रियाओं में स्थायित्व–** बजट नियंत्रण पद्धति में व्यावसायिक क्रियाओं को सामयिक या मौसमी परिवर्तनों से दूर करके व्यावसायिक चक्रों के कुप्रभाव से

बचने के उद्देश्य से बजट विभिन्न अवधियों में विभाजित कर दिया जाता है। इससे व्यावसायिक क्रियाओं में स्थायित्व आ जाता है।

3. **अधिकार कर्तव्य एवं दायित्व का स्पष्ट निर्धारण–** व्यवसाय की विभिन्न क्रियाओं को विभिन्न विभागों में स्पष्ट वितरित कर दिया जाता है और प्रत्येक विभाग की क्रियाओं का विभिन्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों में आबटन किया जाता है।
4. **साधनों का सदुपयोग–** इस प्रणाली में संस्था के साधनों का अधिक अच्छा उपयोग किया जाता है। सामग्री, श्रम व अन्य व्ययों के अपव्यय की संभावना कम होती है। जिसके फलस्वरूप उत्पादन लागत मे मितव्ययिता आती है।
5. **प्रभावपूर्ण समन्वय–** बजट नियंत्रण में व्यवसाय की विभिन्न क्रियाओं, विभागों तथा कर्मचारियों के कार्यों में प्रभावपूर्ण सहयोग व समन्वय स्थापित किया जाता है। इससे संस्था की संपूर्ण कार्यक्षमता तो बढ़ती ही है।
6. **सहयोग एवं मिल जुलकर कार्य करने की भावना को प्रोत्साहन–** बजट नियंत्रण प्रणाली में सभी विभागों के बजट एक–दूसरे से संबंधित होते हैं तथा सभी का लक्ष्य समान होता है। अतः सहयोग तथा मिल–जुलकर कार्य करने की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।
7. **श्रम–प्रबंध सम्बन्धों में सामंजस्य–** आधुनिक युग में श्रम एवं प्रबंधक के मध्य कलह का कारण बोनस पारिश्रमिक व अन्य सुविधाओं का आयोजन होता है। बजट नियंत्रण से प्राप्त तथ्यों से श्रमिकों को अवगत करवाकर उन्हें संतुष्ट करना संभव हो सकता है।
8. **संगठन को सुदृढ़ करना–** बजट नियंत्रण द्वारा प्रबंध को संगठन के सुदृढ़ एवं दुर्बल बिन्दुओं का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। प्रबंधक को कुशल प्रबंधकों, पर्यवेक्षकों, श्रमिकों आदि की जानकारी के आधार पर संगठन को सुदृढ़ बनाना और दुर्बल बिन्दुओं में सुधार करना सुलभ होता है।
9. **लेखांकन विभाग की कुशलता में वृद्धि–** बजट निर्माण के लिये विगत् वर्षों के लेखों के विस्तृत आंकड़ों की आवश्यकता होती है जिसे लेखांकन विभाग निरन्तर तैयार करता रहता है। इससे लेखांकन विभाग की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।
10. **प्रमाप लागत में सहायता–** प्रमाप लागत विधि के अंतर्गत किसी संस्था के समस्त कार्यों की प्रमाप लागतें पूर्व निर्धारित कर दी जाती हैं। बजट नियंत्रण के प्रयोग से वास्तविक लागतों को प्रमाप लागतों के अनुसार नियन्त्रण रखने में सहायता मिलती है।

बजट के प्रकार– व्यवसाय में जोखिम तत्व की उपलब्धता ही व्यवसायी को सदैव सावधान रहने के लिये प्रोत्साहित करती रहती है। सभी व्यवसाय जोखिम नहीं तो लाभ नहीं के सिद्धान्त पर संचालित किये जाते है। व्यवसायी आधुनिक युग में विभिन्न तकनीकों का प्रयोग कर जोखिमों को समाप्त नही तो न्यूनतम अवश्य कर सकता है। जोखिमों अथवा अनिश्चितता को कम करने के दिशा में ही व्यवसायी का कदम बजट निर्माण की ओर बढ़ता है। व्यवसायी अपने व्यवसाय के विभिन्न उद्देश्य और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न

प्रकार के बजट बनाता है। व्यवसायी द्वारा बनाये जाने वाले बजट के प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं–

बजट के विभिन्न प्रकारों को तीन आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है– (1) समय के आधार पर, (2) क्रियाओं के आधार पर, (3) लोचता के आधार पर।

(1) समय के आधार पर–

(i) दीर्घकालीन बजट– अगर कोई संस्था अपनी योजनाओं का संचालन 3 वर्ष से लेकर 10 या 20 वर्षों तक की अवधि में चलाना चाहती है, तो उसे दीर्घकालीन बजट कहते हैं।

(ii) वित्तीय बजट– जब कोई संस्था एक वर्ष के लिये अपनी संचालन क्रियाओं के लिये बजट तैयार करती है, तो उसे वित्तीय बजट कहते हैं।

(iii) अल्पकालीन बजट– जब कोई संस्था अपनी संचालन संबंधी क्रियाओं के लियें एक माह, एक सप्ताह का बजट तैयार करती है, तो उसे अल्पकालीन बजट कहा जाता है।

(2) क्रियाओं के आधार पर–

(i) उत्पादन बजट– विक्रय बजट तैयार करने के पश्चात् अपेक्षित माल की मात्रा की पूर्ति करने के लिये उत्पादन बजट तैयार किया जाता है। उत्पादन बजट में केवल उत्पादन योग्य वस्तुओं की इकाईयों का ही नहीं बल्कि उनकी प्रति इकाई तथा कुल लागत का अनुमान लगाया जाता है।

(ii) उत्पादन लागत बजट– उत्पादन लागत बजट में निर्धारित कार्यक्रम तथा उत्पादन योजना को कार्यान्वित करने की अनुमानित लागत होती है।

(iii) उत्पादन उपरिव्यय बजट– उत्पादन उपरिव्ययों में अप्रत्यक्ष सामग्री, अप्रत्यक्ष श्रम एवं अप्रत्यक्ष व्यय की लागत सम्मिलित रहती है। अतः इस बजट में बजट अवधि के अंतर्गत किये जाने वाले समस्त उत्पादन उपरिव्ययों का पूर्वानुमान लगाया जाता है।

(iv) प्रशासन उपरिव्यय बजट– इस बजट में विक्रय एवं वितरण उपरिव्यय का पूर्वानुमान लगाया जाता है तथा इसमें प्रत्येक बजट केन्द्र की प्रशासन लागत, जैसे प्रबन्धक का वेतन, कार्यालय के व्यय आदि को एकत्रित करके प्रशासन लागत बजट में सम्मिलित करते हैं।

(v) विक्रय एवं वितरण उपरिव्यय बजट– इस बजट को तैयार करने में विक्रय प्रबन्धक, विज्ञापन शाखा प्रबन्धक, वितरण प्रबन्धक सहयोग देते हैं। इस बजट में विक्रय एवं वितरण उपरिव्यय का पूर्वानुमान लगाया जाता है।

(vi) पूँजीगत व्यय बजट– यह एक दीर्घकालीन बजट है। यह बजट पूँजीगत व्ययों पर नियंत्रण करने का मुख्य उपकरण है।

(3) लोचता के आधार पर बजट– लागत एवं प्रबन्ध संस्थान लंदन के अनुसार, 'लोचदार बजट एक ऐसा बजट है, जो वास्तव में प्राप्त होने वाले कार्य-स्तर के अनुसार परिवर्तित होने के लिये व्यवस्थित हो।' अतः एक लोचदार बजट उत्पत्ति के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न लागतें प्रस्तुत करता है। लोचदार बजट में समस्त व्ययों को स्थायी, अर्द्ध परिवर्तनीय तथा

परिवर्तनीय व्ययों के अन्तर्गत बुद्धिमतापूर्ण विभाजन के पश्चात् निर्मित किया जाता है, क्योंकि ऐसे बजटों की उपादेयता इन व्ययों के सही वर्गीकरण पर आधारित होती है।

ऐसे बजट को निम्नलिखित दशाओं में तैयार किया जाता है–

(i) जहाँ उत्पत्ति के स्तर में वर्ष के दौरान उद्योग के मौसमी स्वभाव अथवा माँग में परिवर्तन के परिणामस्वरूप परिवर्तन आता रहता है।
(ii) जहाँ व्यवसाय नया हो तथा माँग का पूर्वानुमान कठिन हो।
(iii) जहाँ संस्था उत्पादन के किसी घटक की कमी से पीड़ित हो।
(iv) जहाँ उद्योग फैशन में परिवर्तन द्वारा प्रभावित हो।
(v) जहाँ विक्रय के सामान्य प्रभार मौजूद हों।
(vi) जहाँ व्यावसायिक इकाईयाँ नये उत्पादों को प्रारम्भ कर रही हों या निरन्तर अपने उत्पादों की अभिकल्पना में परिवर्तन करती हों।
(vii) जहाँ उद्योग आदेश के अनुसार उत्पादन करने में लगे हों।

प्रश्न–3. 'बजट प्रशासन की धुरी है।' समझाइये तथा भारत में बजट बनाने, पारित कराने तथा क्रियान्वित कराने की प्रक्रिया का विवेचन कीजिये।

अथवा

बजट प्रक्रिया क्या है? बजट कार्यान्वित करने की प्रणाली को समझाइये।

अथवा

भारतीय बजट को कार्यान्वित करने की प्रणाली का अध्ययन कीजिये।

अथवा

भारतवर्ष में बजट के कार्यान्वयन पर किस प्रकार नियन्त्रण रखा जाता है? समझाइये।

उत्तर– किसी देश की आर्थिक स्थिति उसके बजट द्वारा प्रकट होती है। अर्थव्यवस्था में बजट का अपना एक विशिष्ट महत्व होता है। प्रो. फिण्डले शिराज ने कहा है कि– 'निःसन्देह बजट प्रशासन की धुरी है और सुदृढ़ आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित बजट के अभाव में वित्त व्यवस्था अपने सभी परिणामों के साथ उसी प्रकार अव्यवस्थित हो जाती है, जैसे दिन के बाद रात आना अवश्यम्भावी है।' समाज में धन के असमान वितरण को समाप्त करने में बजट की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बजट की सहायता से लोक-व्यय से विकास कार्य किये जाते हैं। देश में उत्पन्न स्फीतिक या अवस्फीतिक दशाओं पर नियंत्रण किया जाता है। अधिक से अधिक व्यक्तियों को रोजगार की व्यवस्था, कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका पर नियंत्रण बजट के माध्यम से सम्भव होता है। सामाजिक उन्नति, गरीबी पर नियंत्रण, कृषि तथा उद्योगों का विकास तथा मूल्य स्तर पर नियंत्रण बजट के माध्यम से सम्भव होता है। बजट के महत्व को विभिन्न बिन्दुओं द्वारा प्रकट किया जा सकता है–

(1) आर्थिक स्थायित्व– स्फीतिक दशायें उत्पन्न होने पर आधिक्य का बजट बनाकर तथा मन्दी की स्थिति में घाटे का बजट बनाकर अर्थव्यवस्था में स्थिरता लाई जाती है। इसके अतिरिक्त मूल्य स्तर में कमी आने पर निजी विनियोग कम हो जाता है। इसे लोक विनियोग द्वारा स्थिरता दी जा सकती है। बजट में राशि इस समस्या हेतु रखी जाती है।

(2) सामाजिक, आर्थिक उन्नति– प्रगतिशील करारोपण कर धनी–वर्ग व निर्धन–वर्ग में आय तथा सम्पत्ति की समानतायें उत्पन्न कर, कृषि, व्यापार तथा उद्योग क्षेत्र के लिये छूट देकर सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति का प्रयास बजट बनाकर किया जा सकता है।

(3) आय–व्यय का प्रबन्धन– सन् 1919 तक अमेरिका में बजट व्यवस्था के अभाव के कारण किन्हीं विभागों पर नियंत्रण सम्भव नहीं था। इसीलिये सन् 1921 में वहाँ बजट की व्यवस्था आरम्भ हुई। इस प्रकार आय–व्यय के निर्देशन द्वारा नियंत्रण भी सम्भव होता है।

(4) आर्थिक नियंत्रण– बजट के माध्यम से व्यवस्थापिका कार्यपालिका को नियंत्रित करती है तथा आर्थिक नीति का निर्माण करती है। आय की न्यायसंगत वसूली और उपभोग बजट द्वारा ही सम्भव होता है। बजट को सरकारी वित्त की बड़ी योजना माना जाता है। कोई भी विभाग बजट में प्रस्तावित राशि से अधिक व्यय नहीं कर सकता। अतः आर्थिक नियंत्रण बना रहता है।

बजट निर्माण की विधि– बजट निर्माण की विधि प्रायः सभी जगह एक जैसी रहती है। इसे विभिन्न चरणों के अन्तर्गत पूरा किया जाता है जो इस प्रकार हो सकते हैं–

(1) बजट की पूर्व तैयारी– बजट तैयार करने के लिये सभी विभागों से तीन वर्ष के आय–व्यय सम्बन्धी अनुमान माँगे जाते हैं, साथ ही उनसे अपनी आवश्यकताओं से अवगत कराने को कहा जाता है। इन अनुमानों में (i) गत वर्ष के आय–व्यय आँकड़े, (ii) चालू वर्ष के आय–व्यय आँकड़े, (iii) भावी वर्ष के आय–व्यय अनुमान, (iv) गत वर्ष व चालू वर्ष के आय–व्यय के वास्तविक आँकड़े। चूंकि भारत एक संघीय राज्य है अतः केन्द्र तथा राज्यों के अपने अलग–अलग बजट होते हैं। बजट सम्बन्धी अनुमानों को विभागाध्यक्षों के पास भेजा जाता है। वे सावधानीपूर्वक इसका अध्ययन कर सम्पूर्ण विभाग हेतु संयुक्त अनुमान तैयार करते हैं। इसकी तीन प्रतियाँ तैयार कर, एक प्रति प्रशासनिक विभाग को दी जाती है जो अपनी रिपोर्ट वित्त विभाग को देता है। विभागीय मतभेद होने पर सरकारी आदेश प्राप्त कर इन्हें अन्तिम रूप दिया जाता है।

(2) बजट प्रस्तुत करना– बजट बनाकर केन्द्र सरकार संसद में तथा प्रान्तीय सरकारें विधानसभाओं के समक्ष अपने आय–व्यय पत्रक वित्तमंत्री द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। वित्तमंत्री एक वक्तव्य देकर विभिन्न कर प्रस्तावों, करारोपण सम्बन्धी छूट आदि पर प्रकाश डालता है। घाटे का बजट होने पर घाटे की पूर्ति के लिये किये गये प्रयासों पर प्रकाश डालता है। आधिक्य का बजट होने पर अतिरिक्त आय के प्रयोग के सम्बन्ध में प्रकाश डालता है।

(3) बजट पर बहस– बजट प्रस्तुत करने के उपरान्त इस पर बहस की तिथि तय की जाती है। यह प्रायः तीन दिन चलती है। इसमें कोई प्रस्ताव तो नहीं रखा जा सकता तथापि सरकार की नीति की आलोचना की जा सकती है। निश्चित तिथि पर वित्तमंत्री बहस का उत्तर देता है। यदि बहस निर्धारित तिथि में पूरी नहीं होती तब अध्यक्ष इसे बीच में ही समाप्त कर वित्तमंत्री को इसका समापन करने की अनुमति देता है।

(4) मतदान– बजट पर बहस केवल मतदान योग्य मदों पर ही की जा सकती है। बजट में दो प्रकार की मदें हुआ करती हैं– (i) मतदान योग्य मदें, (ii) मतदान अयोग्य मदें।

(i) मतदान योग्य मदों पर बहस में कटौती प्रस्ताव रखा जा सकता है जिसे सरकार से पर्याप्त सूचना प्राप्त कर स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाता है। संसद के दोनों सदनों (लोकसभा तथा राज्य सभा) से पारित होकर राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये बजट भेजा जाता है। (ii) मतदान अयोग्य मदों में राष्ट्रपति, लोकसभा के अध्यक्ष, ऋण सम्बन्धी व्यय, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन तथा भत्ते तथा भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक का वेतन तथा भत्ते सम्मिलित हैं जिन्हें भारत की संचित निधि से दिया जाता है और मतदान की आवश्यकता नहीं होती है।

(5) बजट का निष्पादन– बजट में प्रस्तावित आय को खर्च कर दिया जाता है। बजट के पारित होने पर कर वसूली वित्त मंत्रालय के अधीन केन्द्रीय आय बोर्ड करता है। आय बोर्ड के अलग–अलग विभाग कर वसूली करते हैं। इनमें आयकर विभाग, आबकारी विभाग, तटकर विभाग आदि प्रमुख हैं। करों से प्राप्त आय को रिजर्व बैंक में जमा कर दिया जाता है। कर वसूली का कार्य वित्त मंत्रालय के अन्तर्गत आय विभाग करता है। मंत्रालयों को एवं उनके विभागों को वार्षिक व्यय की जा सकने वाली धनराशि की जानकारी दे दी जाती है।

उच्च अधिकारी की स्वीकृति मिलने पर धनराशि निश्चित मात्रा तक स्वीकृत मदों पर व्यय की जाती है। व्यय राशि के वर्ष के अन्त तक व्यय न होने की दशा में राशि राजसात हो जाती है। कभी–कभी निर्धारित व्यय राशि वर्ष के पूर्व ही समाप्त हो जाती है तब नवम्बर में पूरक बजट इसी प्रक्रिया के साथ पेश किया जाता है। बजट में निर्धारित व्यय राशि के सम्बन्ध में 2 बातों का ध्यान रखना आवश्यक रहता है–

(अ) बजट के नियमों तथा आदेशों के अन्तर्गत ही व्यय होना, (ब) मितव्ययिता लाना। भारत में बजट को इसी कारण **'प्रशासन की धुरी'** कहा जाता है।

प्रश्न–4. सरकार अपने व्यापक आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु किन उपकरणों का उपयोग कर सकती है?

उत्तर– सरकार को स्थिर व्यापक आर्थिक माहौल बनाए रखने में मदद करने के लिए निम्न दो मुख्य उपकरण हैं–

(1) **राजकोषीय नीति**– राजकोषीय नीति के मुख्य लक्ष्यों में निम्नलिखित लक्ष्य शामिल हैं–

(1) सार्वजनिक सेवाएँ प्रदान करना।
(2) धन और आय का पुनर्वितरण।
(3) पर्यावरणीय उद्देश्यों को प्राप्त करना।
(4) आर्थिक विकास को बढ़ावा देना।
(5) आर्थिक व्यापार चक्र का विनियमन।

राजकोषीय नीति आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सरकार द्वारा करों और सार्वजनिक व्यय का उपयोग है।

राजकोषीय नीति के मुख्य दो प्रकार हैं–

(अ) **विस्तारवादी राजकोषीय नीति**– इस नीति का उद्देश्य करों को कम करके और सरकारी खर्च को बढ़ाकर कुल मांग को बढ़ाना और एडी वक्र को बाहर की ओर

स्थानान्तरित करना है। कम करों के साथ, व्यक्तियों और परिवारों के पास वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करने के लिए अधिक आय होती है। इससे उत्पादन बढ़ता है और रोजगार के नये अवसर पैदा होते हैं। बढ़े हुए सरकारी खर्च से आर्थिक गतिविधियों को भी बढ़ावा मिलेगा जिसके लिए श्रमिकों को काम पर रखने की आवश्यकता होगी, जिससे बेरोजगारी के स्तर में कमी आएगी।

(ब) संकुचनकारी राजकोषीय नीति– यह करों में वृद्धि और सार्वजनिक व्यय को कम करके कुल मांग को कम करने और एडी वक्र को अन्दर की ओर स्थानान्तरित करने का प्रयास करती है। करों में वृद्धि करके सरकार बजट घाटे को कम कर सकती है, मुद्रास्फीति से लड़ सकती है और भुगतान सन्तुलन के अन्य मुद्दों को हल कर सकती है।

(2) मौद्रिक नीति– राजकोषीय नीति के समान, मौद्रिक नीति भी दो प्रकार की होती है–

(अ) विस्तारवादी मौद्रिक नीति– इस नीति का उद्देश्य ब्याज दरों को कम करके या धन आपूर्ति को बढ़ाकर आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा देना है। जब ब्याज दरें घटती हैं, तो पैसे उधार लेने की लागत कम हो जाती है। इससे अधिक व्यक्ति और कम्पनियाँ अधिक पैसा उधार लेने और उसे खर्च करने के लिए इच्छुक होंगी। इससे समग्र उत्पादन और आर्थिक विकास में सुधार होता है।

(ब) संकुचनकारी मौद्रिक नीति– यह नीति मुद्रा स्फीति को कम करने और ब्याज दरों में वृद्धि करके बजट घाटे के आकार को कम करने का प्रयास करती है। उच्च ब्याज दरों के साथ, पैसे उधार लेने की लागत बढ़ जाएगी। यह व्यक्तियों और कम्पनियों को केन्द्रीय बैंक से उधार लेने और उसे वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करने को हतोत्साहित करता है।

मौद्रिक नीति मुद्रा स्फीति, उपभोग स्तर, आर्थिक विकास और तरलता और व्यापक आर्थिक कारकों को प्रभावित करने के लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा ब्याज दरों का उपयोग है।

मांग–पक्ष बनाम आपूर्ति–पक्ष नीतियाँ– कुल मिलाकर, सरकार मांग–पक्ष और आपूर्ति–पक्ष नीतियों के माध्यम से अर्थव्यवस्था को नियंत्रित कर सकती है। मुख्य अन्तर यह है कि मांग–पक्ष नीतियाँ समग्र मांग को प्रभावित करने के लिए डिजाइन की गई हैं, जबकि आपूर्ति–पक्ष नीतियाँ समग्र आपूर्ति को प्रभावित करने के लिए डिजाइन की गई हैं।

मांग–पक्ष नीतियों में निम्न नीतियाँ शामिल हैं–

(1) राजकोषीय नीतियाँ– जैसे कर में कटौती और सरकारी खर्च में वृद्धि।

(2) मौद्रिक नीतियाँ– जैसे कम ब्याज दरें।

आपूर्ति–पक्ष नीतियों में निम्न नीतियाँ शामिल हैं–

(1) **हस्तक्षेपवादी आपूर्ति–** पक्ष नीतियाँ जैसे निजी क्षेत्र की फर्मों, प्रशिक्षण, शिक्षा और बुनियादी ढाँचे के लिए सरकारी प्रावधान। यह नीति बाजार की भूमिका से अधिक सरकार की भूमिका पर जोर देती है।

(2) **गैर–हस्तक्षेपवादी आपूर्ति–** पक्ष नीतियाँ जैसे कर कटौती, कल्याण लाभ में कटौती, निजीकरण, विपणन और विनियमन। इस नीति में सरकार से अधिक अहम भूमिका बाजार की है।

प्रश्न–5. सार्वजनिक ऋण क्या है? सार्वजनिक ऋण के विभिन्न स्वरूपों (रूपों या प्रकारों) की व्याख्या कीजिये। (या वर्णन कीजिये)

अथवा

सार्वजनिक ऋण से आप क्या समझते हैं? सार्वजनिक ऋण के वर्गीकरण को समझाइये।

अथवा

सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण दीजिये। सार्वजनिक ऋण क्यों लिया जाता है?

अथवा

सार्वजनिक ऋण का अर्थ बताइये। इसके मुख्य प्रकार कौन से हैं?

अथवा

सार्वजनिक ऋण के विभिन्न प्रकारों को विस्तार से समझाइये।

अथवा

सार्वजनिक ऋण का आशय एवं इसके उद्देश्य बताइये।

उत्तर– राज्य द्वारा प्राप्त किये जाने वाले ऋणों को सार्वजनिक ऋण कहा जाता है। व्यक्ति की भाँति असाधारण परिस्थितियों जैसे– युद्ध, अकाल, बाढ़ अथवा आर्थिक विकास इत्यादि के लिये व्यय जब सामान्य स्त्रोतों से पूरा नहीं होता तब सरकार को ऋण लेना पड़ता है। सार्वजनिक ऋण राजकीय आय का एक अन्तिम स्त्रोत है। इसे असाधारण वित्त भी कहते हैं क्योंकि इसकी प्राप्ति केवल असाधारण परिस्थितियों अथवा असाधारण उद्देश्यों के लिये ही की जाती है। सार्वजनिक ऋणों का स्वरूप अथवा वर्गीकरण निम्नलिखित है–

(1) अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋण– ऋणों के भुगतान की अवधि के आधार पर इन्हें 'अल्पकालीन' तथा 'दीर्घकालीन' दो श्रेणियों में बाँटा जाता है। दीर्घकालीन ऋणों के भुगतान की अवधि 10 से 29 वर्ष तक होती है। ऐसे ऋण दीर्घकालीन विकास कार्यों के लिये होते हैं। इनके भुगतान हेतु सरकार **'विशिष्ट कोष'** स्थापित करती है, जिसमें थोड़ी–थोड़ी रकम प्रतिवर्ष डाली जाती है। इसीलिये दीर्घकालीन ऋणों को 'कोषित ऋण' भी कहा जाता है। अल्पकालीन ऋण अल्पावधि के लिये तथा छोटे–छोटे खर्चे पूरे करने के लिये होते हैं। इनके भुगतान हेतु सरकार विशेष कोष की स्थापना नहीं करती, जिसके कारण इन्हें **'अकोषित ऋण'** भी कहा जाता है। अल्पकालीन ऋणों के ब्याज का भुगतान सरकार अपनी सामान्य आय में से करती है, जबकि मूलधन का भुगतान दूसरा ऋण लेकर किया जाता है। इसीलिये अल्पकालीन ऋणों को 'चल ऋण' भी कहा जाता है। अल्पकालीन ऋणों का भार वर्तमान पीढ़ी पर तथा दीर्घकालीन ऋणों का भार भावी पीढ़ी पर पड़ता है। अल्पकालीन ऋणों की अपेक्षा दीर्घकालीन ऋणों पर ब्याज की दर अधिक होती है।

(2) आन्तरिक और बाह्य ऋण– सार्वजनिक ऋण का यह वर्गीकरण ऋण–प्राप्ति के स्त्रोत पर आधारित है। सरकार जो ऋण स्वदेशी नागरिकों, बैंकों तथा दूसरी वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त करती है, 'आन्तरिक ऋण' कहलाते हैं। 'बाह्य ऋण' विदेशी सरकारों, विदेशी नागरिकों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से प्राप्त ऋण होते हैं। 'आन्तरिक ऋण' स्वदेशी मुद्रा में प्राप्त होते हैं तथा उनका भुगतान भी स्वदेशी मुद्रा में किया जाता है। अतः सरकार के लिये आन्तरिक ऋणों के भुगतान की समस्या इतनी जटिल नहीं होती, जितनी कि विदेशी ऋणों के भुगतान की होती है। आन्तरिक ऋण 'ऐच्छिक' और 'बलात्' दोनों प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु बाह्य ऋण केवल 'ऐच्छिक' होते हैं। भुगतान–सन्तुलन में उपस्थित घाटे को पूरा करने या विदेशों से

पूँजीगत साज-सामान का आयात करने के लिये बाह्य ऋण प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। आन्तरिक ऋणों का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार नहीं होता। इनका वास्तविक भार इस बात पर निर्भर करता है कि ये समाज के किस वर्ग से प्राप्त किये गये है तथा इनके भुगतान हेतु किस वर्ग को करारोपित किया गया है? बाह्य ऋणों का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार उस राशि के बराबर होता है, जो मूलधन और ब्याज के रूप में विदेशों को चुकाया जाता है। इनका वास्तविक भार उस हानि के बराबर होता है, जो ऋणी देश के नागरिकों को सहनी पड़ती है।

(3) उत्पादक और अनुत्पादक ऋण– सार्वजनिक ऋणों के प्रयोग के आधार पर उन्हें 'उत्पादक' (सक्रिय) और 'अनुत्पादक' (निष्क्रिय) दो श्रेणियों में बाँटा जाता है। जिस ऋण का प्रयोग उत्पादन-कार्यों या विकास-योजनाओं में किया जाता है, वह **'उत्पादन ऋण'** कहलाता है। शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं का विस्तार श्रम-शक्ति की दक्षता बढ़ाने वाला होता है। अतः कृषि, उद्योग, सिंचाई, विद्युत, परिवहन आदि के विकास के साथ-साथ शिक्षा एवं स्वास्थ्य-सेवाओं के विस्तार हेतु लिये गये ऋण **'उत्पादक ऋण'** कहलाते है। सरकार के लिये उत्पादक-कार्यों मे प्रयुक्त ऋणों के भुगतान की कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि कुछ समय बाद सरकार को इनसे आवर्तक आय मिलने लगती है। **'अनुत्पादक ऋण'** ऐसे सार्वजनिक ऋणों को कहा जाता है, जिनका उद्देश्य प्रत्यक्ष भौतिक लाभ प्रदान करना या आय-अर्जक सम्पत्ति का निर्माण करना नहीं होता तथा जिनके प्रयोग से जनसाधारण के स्वास्थ्य और कार्य-क्षमता में कोई सुधार सम्भव नहीं होता। यदि ऋण-राशि का प्रयोग विदेशों पर आक्रमण की तैयारी करने या मादक-पदार्थों के उत्पादन तथा रात्रि-नृत्य क्लबों के निर्माण में किया जाता है, तब उसे **'अनुत्पादक ऋण'** माना जायेगा। सरकार के लिये ऐसे ऋणों का भुगतान करना भी समस्या बन जाता है।

(4) ऐच्छिक और बलात् ऋण– सार्वजनिक ऋणों की प्रकृति के आधार पर उन्हें 'ऐच्छिक' और 'बलात्' (अनिवार्य) दो श्रेणियों में बाँटा जाता है। सरकार को जो ऋण बिना किसी दबाव के प्राप्त हो जाते हैं, वे **'ऐच्छिक ऋण'** कहलाते हैं। 'बलात् ऋण' दबाव (बल) के प्रयोग द्वारा एकत्रित ऋण होते हैं। ऐच्छिक ऋण आन्तरिक और विदेशी दोनों स्त्रोतों से प्राप्त किये जा सकते है, किन्तु बलात् ऋण केवल देश के भीतर से प्राप्त किये जा सकते हैं। जनतन्त्रीय शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्यतया ऐच्छिक ऋण ही प्राप्त किये जाते हैं, क्योंकि बलात् ऋणों से जनमत के प्रतिकूल होने का भय रहता है।

(5) शोध्य तथा अशोध्य ऋण– **'शोध्य ऋण'** वे है, जिनका ब्याज-सहित भुगतान सरकार को निश्चित अवधि के भीतर करना होता है। 'अशोध्य ऋण' वे हैं, जिन्हें सरकार केवल ब्याज देने की शर्त के आधार पर सदा के लिये प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार के ऋणों में मूलधन लौटाने की समस्या नहीं होती। डाल्टन ने शोध्य ऋणों को 'निश्चितकालीन ऋण' तथा अशोध्य ऋणों को 'अनिश्चितकालीन ऋण' की संज्ञा दी है। 'अनिश्चितकालीन ऋण' का अभिप्राय ऐसे ऋण से है, जिसका मूलधन कभी लौटाना आवश्यक नहीं होता, किन्तु जिस पर ब्याज के भुगतान की गारण्टी होती है। दूसरी ओर, 'निश्चितकालीन ऋण' वह है, जिसका भुगतान निश्चित अवधि के भीतर लौटाना होता है। वर्तमान समय में अनिश्चितकालीन (अशोध्य) ऋणों का प्रचलन नहीं है।

(6) पण्य तथा अपण्य ऋण– जब सरकार खुले बाजार में ऋणपत्र बेचकर ऋण प्राप्त करती है, तब ऐसा ऋण **'पण्य ऋण'** कहलाता है। खुले बाजार में बेची जाने वाली सरकारी प्रतिभूतियों का पुनः विक्रय सम्भव होता है। 'पण्य ऋण' केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं को प्रभावित करते है, जबकि 'अपण्य ऋण' इन क्रियाओं को प्रभावित नहीं करते, क्योंकि ये ऐसे ऋणपत्रों की बिक्री द्वारा एकत्रित किये जाते हैं, जिन्हें खुले बाजार में खरीदा-बेचा नहीं जा सकता। डाकखाने के बचत-सर्टीफिकेट इसी तरह के ऋणपत्र हैं, जिन्हें पूर्व-निर्धारित दरों पर केवल सरकार के हाथों बेचा जा सकता है।

(7) ब्याज-सहित तथा ब्याज-रहित ऋण– जिन ऋणों पर सरकार को ब्याज का भुगतान करना नहीं पड़ता, वे **'ब्याज-रहित ऋण'** कहलाते हैं। ऐसे ऋण प्राचीनकाल में प्रचलित थे। जिन ऋणों पर सरकार को निश्चित ब्याज का भुगतान करना होता है, वे **'ब्याज-सहित ऋण'** कहलाते हैं। वर्तमान युग में ऐसे ही ऋणों का प्रचलन है।

(8) सकल और निवल ऋण– **'सकल ऋण'** का अर्थ किसी समय-विशेष पर सरकार की कुल देनदारियों से है। यदि सकल ऋण में से उस राशि को घटा दिया जाये, जो ऋण-शोधन हेतु कोष में जमा की गई है, तब **'निवल ऋण'** ज्ञात हो जाता है। सार्वजनिक ऋण क्यों लिया जाता है? इसके लिये अन्य प्रश्न में सार्वजनिक ऋणों की आवश्यकता या उद्देश्य पढ़ें।

प्रश्न–6. सार्वजनिक ऋण क्या हैं? इसके भुगतान करने की विभिन्न रीतियों का उल्लेख कीजिये।

अथवा

सार्वजनिक ऋण किसे कहते हैं? भारत में सार्वजनिक ऋण में वृद्धि के क्या कारण हैं? इसकी कमी हेतु आप क्या सुझाव देंगे?

अथवा

किन परिस्थितियों तथा उद्देश्यों के लिये सार्वजनिक ऋण को उचित ठहराया जा सकता है? इसके प्रभाव बतलाइये।

अथवा

सार्वजनिक ऋण की आवश्यकता एवं उसके भुगतान की विधियों का संक्षिप्त वर्णन करिये।

अथवा

सार्वजनिक ऋणों के भुगतान की विभिन्न रीतियों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये।

अथवा

सार्वजनिक ऋण के शोधन के विभिन्न तरीकों को लिखिये।

उत्तर– प्राचीनकाल में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री राज्य को एक अहस्तक्षेप वाली संस्था मानते थे। अतः उसके शान्ति तथा सुरक्षा जैसे सीमित कार्यों के लिये करारोपण ही पर्याप्त आय का स्त्रोत था, किन्तु आधुनिक युग में सरकार के कार्यों में वृद्धि हुई है। 'कल्याणकारी राज्य' का लक्ष्य या राज्य का 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का नारा उसे असीमित कार्य करने हेतु प्रेरित करता है। अतः उसे अधिक व्यय करने के लिये अधिक धन की आवश्यकता होती है। सार्वजनिक ऋणों का प्रादुर्भाव इसी संदर्भ मे हुआ है। प्राचीनकाल में केवल युद्ध का सामना करने या संकटकालीन परिस्थितियों में ही ऋण लिये जाते थे, किन्तु आज विकासशील देशों की आर्थिक विकास सम्बन्धी योजनाओं को पूरा करने के लिये दैनिक जीवन में सार्वजनिक ऋणों की आवश्यकता को महसूस किया जाने लगा है। विगत वर्षों में सार्वजनिक ऋण

राजकीय वित्त व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग बन गया है। यद्यपि प्रो. बेस्टेबल के अनुसार- 'जिस प्रकार एक व्यक्ति हमेशा ऋण की सहायता से अपना काम नहीं चला सकता, उसी प्रकार सरकार भी हमेशा ऐसे साधनों से अपना कार्य नहीं चला सकती है।' इसी प्रकार एडम स्मिथ का कहना है कि- 'सार्वजनिक ऋण से व्यर्थ के व्यय, व्यर्थ के युद्ध तथा बुरी आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं।' तथापि आज सार्वजनिक ऋण राजकीय वित्त व्यवस्था में विशेषकर विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिये अपरिहार्य है। दिनों-दिन सार्वजनिक ऋण के महत्व में वृद्धि होती जा रही है। यद्यपि अनुत्पादक ऋणों को अच्छा नहीं कहा जा सकता, तथापि करारोपण की सीमित सामर्थ्य के कारण ऋणों का उपयोग हर क्षेत्र में होता है।

सार्वजनिक ऋणों की आवश्यकता (एवं वृद्धि के कारण) या उद्देश्य

(1) युद्धकालीन वित्त की व्यवस्था- प्राचीनकाल से ही ऋण लेने का मुख्य उद्देश्य युद्ध का सामना करना रहा है। युद्ध में अधिक धन की आवश्यकता सरकार को ऋण लेने के लिये बाध्य करती है। फिर आज के युद्ध तो मुख्य रूप से मँहगे साज-सामान से ही लड़े जाते हैं। अतः ऐसी स्थिति में सार्वजनिक ऋणों की आवश्यकता महसूस की जाती है।

(2) प्राकृतिक विपत्तियों का सामना- अकाल, बाढ़, महामारी जैसी प्राकृतिक आपदाओं का सामना केवल करारोपण की आय के द्वारा नहीं किया जा सकता। इसके लिये देश के नागरिकों तथा विदेशी सरकारों से पर्याप्त बड़ी राशि के सार्वजनिक ऋण प्राप्त करने होते हैं।

(3) लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना का उद्देश्य- आज देशों में समाजवादी तथा कल्याणकारी राज्यों की स्थापना पर बल दिया जा रहा है जिसका लक्ष्य विशाल पैमाने पर योजनायें तैयार कर उनमें पूँजी का विनियोजन है। आज आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि के लिये ही धन की आवश्यकता महसूस की जाती है। यातायात, चिकित्सा, शिक्षा, संचार जैसी लोकोपयोगी सेवाओं को बड़े पैमाने पर संचालित करने हेतु सरकारों को सार्वजनिक ऋण लेने की आवश्यकता होती है।

(4) समाजवादी समाज की स्थापना का उद्देश्य- विश्व में समाजवादी विचारधारा का बड़ी तेजी से विस्तार हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिक संगठित हो रहे हैं।

उनके लिये न्यूनतम मजदूरी, पेन्शन, सामाजिक सुरक्षा तथा बीमा, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के लिये अधिक धन की आवश्यकता को केवल राज्य के सीमित स्रोतों से पूरा नहीं किया जा सकता। अतः सार्वजनिक ऋण लेना ही आवश्यक हो जाता है।

(5) उत्पादक-कार्यों के लिये ऋणों की आवश्यकता- बड़े उद्योगों की स्थापना, देश के औद्योगिक विकास हेतु अधिक धन की पूर्ति सार्वजनिक ऋण से ही सम्भव हो सकती है। देश के प्राकृतिक संसाधनों के पूर्ण विदोहन के लिये अधिक पूँजी की आवश्यकता को सार्वजनिक ऋणों के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। इससे देश के कुल उत्पादन को बढ़ाने में सहायता मिलती है।

(6) आर्थिक नियोजन हेतु सार्वजनिक ऋणों की आवश्यकता- विकासशील देशों को शान्तिकाल में अपने देश के नियोजित-विकास हेतु योजनायें बनानी होती हैं। इन योजनाओं में देश के दीर्घकालीन हित पर ध्यान देते हुये अनेक बड़े विनियोजन वाले कार्य हाथ में लिये

जाते हैं। अतः विभिन्न योजनाओं को पूरा करने के लिये सार्वजनिक ऋणों की आवश्यकता होती है।

(7) देश में उच्चावचनों की स्थिति का सामना करने हेतु- मुद्रा-प्रसार के समय व्यक्तियों के हाथों में अतिरिक्त क्रय-शक्ति होती है। इसे सार्वजनिक ऋण लेकर कम किया जा सकता है, ताकि अर्थव्यवस्था में मूल्यों की वृद्धि और अनावश्यक व्यय को रोका जा सके। इसी प्रकार मन्दी की स्थिति में उत्पादन की माँग कम हो जाने पर बेरोजगारी आरम्भ हो जाती है। इसे समाप्त करने हेतु सार्वजनिक ऋण लेकर निर्माण- कार्यों पर विनियोजन किया जा सकता है। साथ ही निजी विनियोग की कमी को सार्वजनिक विनियोग से पूरा कर देश में मन्दी की स्थिति का सामना किया जा सकता है। अतः सार्वजनिक ऋण उच्चावचनों को दूर करने में भी सहायक होते हैं।

(8) लोकमत को अनुकूल बनाने हेतु- कभी-कभी करदाताओं की करदान-सामर्थ्य कम होने पर या कर की दरें बढ़ाने पर नागरिक अशान्ति उत्पन्न होने की आशंका होती है तब सरकार लोकमत को अपने अनुकूल रखने के लिये अल्पकाल में सार्वजनिक ऋण लेकर व्यय पूरे करती है।

(9) चालू व्ययों को पूरा करने हेतु- सामान्य रूप से वित्तीय वर्ष के आरम्भ में राज्य की चालू आयकर वसूली देर से होने के कारण कम होती है। करदाता प्रायः बजट वर्ष के अन्त में करों की अदायगी करते हैं। अतः चालू व्यय को पूरा करने के लिये सरकार अल्पकालीन सार्वजनिक ऋण लेना आवश्यक समझती है। इसी से चालू व्यय पूरा किया जाता है।

सार्वजनिक ऋण का शोधन या ऋण-भुगतान की विधियां- ऋण-शोधन का अर्थ ऋण की अदायगी या वापिसी से होता है। लिये गये कर्ज का समय और शर्तों के अनुसार भुगतान सरकार का नैतिक कर्तव्य होता है। इसके अतिरिक्त अदायगी में विलम्ब, ब्याज बढ़ने के कारण ऋण-भार को अधिक करता है। यह भावी पीढ़ी पर हस्तान्तरित होता है। अतः ऋण-भुगतान समय पर होना अत्यन्त आवश्यक है। ऋण-भुगतान की निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं-

(1) ऋण का परिवर्तन- कभी-कभी सरकार दिये गये समय पर ऋण-भुगतान में अपने आपको असमर्थ पाती है, तब वह नया ऋण लेती है तथा पूर्व के ऋण का भुगतान इस ऋण से कर देती है। पुराने ऋण को भी नये ऋण में नई ब्याज-दरों पर बदलने की सुविधा दी जाती है। विकासशील देशों में सदैव भारी आर्थिक बोझ के कारण सरकार ऐसा करती है, लेकिन इससे सार्वजनिक ऋण-राशि बढ़ती रहती है। दूसरे जनता के विश्वास पर यह निर्भर है।

(2) ऋण-निषेध- विशेष परिस्थिति में सरकार ऋण-अदायगी से इन्कार करती है। तब भी ऋण का भुगतान माना जाता है। यह पूर्णतः या आंशिक इन्कार हो सकता है। यदि मूलधन तथा ब्याज दोनों की अदायगी से इन्कार किया जावे, तब पूर्ण इन्कार होता है। यदि केवल ब्याज-अदायगी से इन्कार किया जावे, तब आंशिक ऋण-भुगतान कहलाता है। सन् 1930 की मन्दी के समय किन्हीं देशों द्वारा इसका आश्रय लिया गया था। परन्तु इस विधि से सरकार का विश्वास समाप्त होता है। जनता में आक्रोश, विदेशों से सम्बन्ध खराब होने की सम्भावना रहती है।

(3) **ऋण पुनः शोधन–** जब सरकार पूर्व के ऋणों की वापिसी के लिये पुराने ऋण-पत्रों के स्थान पर नये ऋण-पत्र जारी कर देती है और ऋण-अदायगी को भावी तिथि पर टाल देती है, तब ऋण-पुनःशोधन होता है। इसके लिये सरकार दो रीतियाँ अपनाती है- (अ) पुराने ऋणों पर ही नये ऋण जारी कर दे। (ब) नये ऋण-पत्र जारी कर पुराने का भुगतान करे। यद्यपि ऋण- परिवर्तन तथा पुनः शोधन की विधियाँ एक जैसी है तथापि दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। ऋण-परिवर्तन स्वेच्छा से होता है, जबकि ऋण पुनः शोधन बलपूर्वक भी हो सकता है। ऋण- परिवर्तन मे नये ऋण-पत्र जारी होना भी आवश्यक है जबकि पुनः शोधन में नहीं।

(4) **ऋणों का वास्तविक भुगतान–** ऊपर वर्णित विधियाँ ऋणों की वास्तविक अदायगी नहीं करती, अपितु ऋण-भार को टालकर आगे ले जाती हैं। अतः उन विधियों की विवेचना करना आवश्यक है, जो ऋणों के भार में वास्तविक कमी लाती हैं। इसमें निम्नलिखित तरीके आते हैं–

(अ) **शोधन निधियाँ (कोष)–** सरकार द्वारा ऋण की अदायगी के लिये एक परिशोध-कोष की स्थापना की जाती है। इसमें प्रतिवर्ष एक निश्चित राशि ऋण-अदायगी के लिये जमा की जाती है। इस राशि की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है ताकि ऋण की परिपक्वता अवधि पर मूलधन तथा ब्याज का भुगतान सम्पूर्ण रूप से किया जा सके। शोधन-कोष दो तरीके से बनाया जाता है–

(1) वार्षिक चालू आय में से कुछ बचत को कोष में डालना।

(2) एक निश्चित राशि कोष में डालना चाहे बचत हो या न हो।

इस रीति से ऋणों की अदायगी समय पर होती है तथा जनता का विश्वास बना रहता है।

(ब) **वार्षिक वृत्ति–** इस रीति में सरकार प्रति वर्ष ब्याज और मूलधन की एक निश्चित राशि का भुगतान करती है। इससे ऋण-भार तथा ब्याज दोनों कम होते चले जाते हैं।

(स) **पूँजी-कर–** सम्पूर्ण ऋण-राशि का एकबारगी भुगतान करने के लिये सरकार द्वारा अधिक सम्पत्ति रखने वालों पर पूँजी-कर लगाकर ऋणों का भुगतान कर दिया जाता है। प्रायः युद्ध-ऋणों का भुगतान इसी रीति से किया जाता है किन्तु एक निश्चित सीमा तक सम्पत्ति को इससे छूट भी दी जाती है। इसके पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्क दिये जाते हैं।

(द) **सार्वजनिक आगम में बचत द्वारा–** प्राचीनकाल में प्रायः आधिक्य के बजट अच्छे समझे जाते थे। इनमें अधिक कर लगाकर बचतों के द्वारा ऋण-अदायगी की जाती है। परन्तु आजकल घाटे के बजट में यह सम्भव नहीं है।

(3) **ब्याज-दरों में अनिवार्य कमी–** सरकार असाधारण समयों पर केवल मूलधन की अदायगी करती है और कुछ ब्याज जो आंशिक होता है, देती है। इस प्रकार वह ऋणभार से मुक्ति पा लेती है, किन्तु असाधारण परिस्थितियों में ही ऐसा करना सरकार के लिये अपेक्षित होता है। इससे ब्याज-दर का बोझ तो कम हो जाता है लेकिन आगे सरकार को ऋण प्राप्त करने में कठिनाई होती है।

ऋण-शोधन की किसी भी विधि को अपनाया जावे, सरकार को अपनी साख बनाये रखने के लिये या भावी ऋण प्राप्त करने के लिये विधियों का चुनाव करते समय अत्यन्त सावधानी रखना आवश्यक होता है।

सार्वजनिक ऋणों के प्रभाव (गुण-दोष)

(1) **मुद्रा की पूर्ति तथा कीमत-स्तर पर प्रभाव–** सार्वजनिक ऋण देश में मुद्रा की मात्रा पर प्रभाव डालते है जब ऋण लिये जाते है तब समाज में मुद्रा की कमी हो जाती है और जब चुकाये जाते है तब मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। इसका सामान्य मूल्य-स्तर पर प्रभाव पड़ता है। कीमतों का कम या अधिक होना मुद्रा की आपूर्ति के अनुसार ही होता है।

(2) **आर्थिक क्रियाओं और व्यवसाय पर प्रभाव–** सार्वजनिक ऋण बाजार में मुद्रा की कमी या उनकी अदायगी बाजार में मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाती है। अतः जब उत्पादक-कार्यों के लिये विनियोग की आवश्यकता होती है उस समय ऋणों की अदायगी कम या उत्पादन की माँग न होने पर ऋणों द्वारा उनकी माँग उत्पन्न कर सार्वजनिक ऋण आर्थिक क्रियाओं में चेतना लाने में सहायक होते है।

(3) **वितरण पर प्रभाव–** सार्वजनिक ऋण अमीर व्यक्तियों से लिये जाते हैं। ब्याज की अदायगी उन्हें अधिक धनी बनाती है। इसके साथ ही ऋणों को चुकाने के लिये लगाये गये करों का भार भी निर्धन वर्ग पर ही अधिक पड़ता है। अतः ऋण आर्थिक असमानताओं अर्थात् आय, सम्पत्ति सम्बन्धी असमानताओं को बढ़ाते हैं क्योंकि इनसे अमीर लोग ही अधिक लाभान्वित होते हैं। किन्तु निर्धनों पर अधिक सार्वजनिक व्यय कर इसे कम किया जा सकता है और साधनों की क्रय-शक्ति को बढ़ाया जा सकता है।

(4) **बचत, विनियोग तथा पूंजी–निर्माण पर प्रभाव–** सार्वजनिक ऋण व्यय करने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, जिससे बचतें होती हैं और उनका विनियोग होकर पूंजी-निर्माण होता है। ऋणों के शोधन पर मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से पूंजी-निर्माण में सहायता मिलती है लेकिन इस शोधन के लिये जब कर लगाये जाते हैं तब बचत, विनियोग तथा पूंजी-निर्माण में कमी आती है।

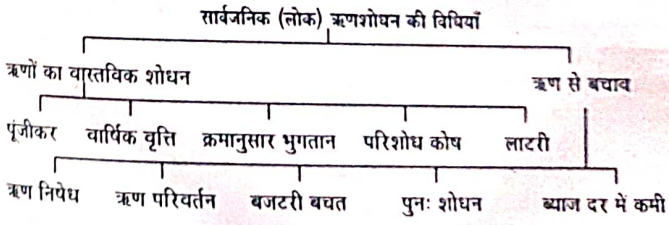
(5) **रोजगार में वृद्धि–** सार्वजनिक ऋणों का मन्दी में विनियोजन कर रोजगार की कमी को दूर किया जाता है।

प्रश्न–7. लोक ऋण को चुकाने के विभिन्न तरीके कौनसे हैं? भारत अपने विशाल ऋणों की अदायगी किस प्रकार कर सकेगा ?

अथवा

सार्वजनिक ऋण के भुगतान के विभिन्न उपायों का विवेचन कीजिए। इनमें कौनसा उपाय भारत जैसे देश के लिए श्रेष्ट है ?

उत्तर– ऋण शोधन की अनेक विधियों को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–



सरकार द्वारा जनता से लिए गये ऋणों को चुकाना या मूलधन की वापिसी ही सार्वजनिक ऋणों का शोधन कहलाता है। इन भुगतान विधियों के भिन्न-भिन्न रूप समय-समय पर अपनी उपयुक्तता दिखलाते हैं।

(1) ऋण परिशोध कोष– यह एक विशेष कोष होता है जिसका निर्माण किसी ऋण विशेष के भुगतान के लिए किया जाता है। यह कोष 2 प्रकार से स्थापित होता है– प्रथम वार्षिक आय से और द्वितीय नए ऋण लेकर। किन्तु नए ऋणों के द्वारा कोष की स्थापना एक तरह का ऋण परिवर्तन होता है। ऋण परिशोध कोष निश्चित या अनिश्चितकालीन हो सकता है। निश्चित कोष में प्रतिवर्ष एक निश्चित धनराशि अनिवार्य रूप से जमा की जाती है, जबकि अनिश्चितकालीन कोष में बजट में जितनी रकम बचत में होती है कोष में डाल दी जाती है।

डाल्टन के अनुसार, "संचयी शोधन कोष का अर्थ होता है ब्याज और शोधन निधि दोनों के लिए स्थायी ऋण प्रभार, जिसमें प्रतिवर्ष ब्याज के नाते बचाई जाने वाली राशि शोधन कोष में जुड़ती जाती है। इसलिए वार्षिक शोधन कोष चक्रवृद्धि ब्याज की गति से बढ़ता है।"

(2) वार्षिक प्रवृत्तियाँ– जब सरकार किसी निश्चित अवधि के अन्तर्गत सार्वजनिक ऋण का भुगतान करना ही चाहती है तो वह ऋण के बोझ से मुक्त होने के लिए, उनकी वार्षिक किश्तें बाँध देती है। इस विधि को वार्षिक वृत्ति कहते हैं। भुगतान की राशि में मूलधन तथा ब्याज दोनों ही सम्मिलित रहते हैं। इस विधि से ऋण का भुगतान करने से प्रतिवर्ष कुछ-कुछ ऋण दायित्वों से मुक्ति होती रहती है। जिस बार अन्तिम वार्षिक वृत्ति का भुगतान होता है पूरा ऋण भुगतान हो जाता है। बजट पर भार इससे अधिक पड़ेगा, किन्तु ऋण का भार भावी पीढ़ियों पर कम होता चला जावेगा।

(3) क्रमानुसार भुगतान– इस विधि से ऋण का भुगतान क्रय के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार की विधि में प्रत्येक ऋण का कुछ भाग प्रत्येक वर्ष परिपक्व हो जाता है।

परिपक्व होने वाले ऋण पत्रों का क्रम सरकार आरम्भ से ही निश्चित कर देती है। इस विधि का प्रयोग अमेरिका में स्थानीय सरकारों द्वारा होता है।

(4) लाटरी द्वारा भुगतान– ऋण पत्रों के भुगतान का क्रम आरम्भ से ही निश्चित न करते हुए, लाटरी के अनुसार किया जाता है। इस विधि में ऋणदाताओं को यह पता नहीं होता कि उनके ऋणों का भुगतान कब होगा ?

(5) पूँजी–कर द्वारा भुगतान– सार्वजनिक ऋणों के भुगतान का एक तरीका यह है कि सरकार एक निश्चित कररहित सीमा के बाद व्यक्तियों की सम्पत्ति से पूँजीगत मूल्य पर एकदम एक बार ही कर लगाती है और इससे जो आय प्राप्त होती है उसी से ऋण का भुगतान कर दिया जाता है। प्रायः युद्ध ऋणों का भुगतान इसी के द्वारा किया जाता है। परन्तु इस प्रकार के भुगतान के पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्क दिए जाते हैं। रिकार्डो ने इस सम्बन्ध में कहा है, "एक देश जिस पर बहुत से ऋण एकत्र हो गये हैं, बहुत ही कृत्रिम स्थिति में हो जाता है।....जो देश इस प्रकार की कृत्रिम स्थिति में फँस जाता है, उसको इससे छुटकारा पाने के लिए अपनी सम्पत्ति के किसी भी अंश को ऋण का शोधन करने के लिए त्याग कर देना चाहिए।" इसके समर्थक हेन्सन, एजवर्थ, पीगू तथा लारेन्स थे, जबकि जोसिया स्टेम्प तथा पेन इसके विरोधी रहे हैं।

पूँजी–कर के पक्ष में तर्क–

1. धनी तथा निर्धन दोनों वर्गों द्वारा ही त्याग की समानता हो जाती है।
2. उद्योग तथा व्यापारिक उन्नति एवं विकास होता है।
3. ऋणभार से एकदम मुक्ति हो जाती है।
4. मूल्य-स्तर पर ऋणभार में वृद्धि हो जाती है।
5. इससे सम्पत्ति सम्बन्धी असमानतायें दूर होती हैं।
6. समाज के कल्याण में सहायता मिलती है।

पूँजी लाभ–कर के विपक्ष में तर्क–

1. पूँजी का दूसरे देशों को स्थानान्तरण होने का भय बना रहता है।
2. प्रशासकीय कठिनाई भी आ सकती है, क्योंकि पूजी के मूल्यों को निकालना सरल कार्य नहीं है।
3. पूँजी तथा साख पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है।

पूँजी-कर के पक्ष तथा विपक्ष के तर्कों को देखने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऋण शोधन के लिए कोई ऐसी आर्थिक नीति नहीं अपनानी चाहिए जिससे नागरिकों की बचत व निवेश पर बुरा प्रभाव पड़े।

अन्य रीतियों या ऋण के भुगतान से बचाव– उपरोक्त विधियों से सरकार वास्तव में सार्वजनिक ऋण का शोधन करती है परन्तु कभी-कभी बिना ऋण का भुगतान किए ही ऋण के भार से मुक्त हो जाती है।

(6) ऋण निषेध– कभी-कभी सरकार ऋण के शोधन से एकदम इंकार कर देती है। ऋणदाताओं को मूलधन तथा ब्याज न देने की सूचना दे देती है, परन्तु यह एक असामान्य रीति है और इसके घातक परिणाम भी सामने आते हैं, जैसे–

(i) इससे सरकार के प्रति जनता का विश्वास उठ जाता है और भविष्य में ऋण आसानी से नहीं मिल सकते।

(ii) एक वर्ग विशेष के साथ अन्याय होता है।

(iii) यह नीति अगर विदेशी ऋण के सम्बन्ध में अपनायी जाती है तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर देश की साख गिरने के साथ-साथ सम्बन्धों में भी तनाव आ जाता है, कभी-कभी आपस में युद्ध होने की आशंका भी प्रबल हो जाती है।

रूस ने सितम्बर 1917 की क्रान्ति के पश्चात् अपने समस्त ऋण जिनकी मात्रा 3,23,000 लाख रूबल थी, भुगतान करने से इंकार कर दिया था जिससे बाद में देश को बड़ी हानि उठानी पड़ी।

(7) ऋण परिवर्तन– यह ऋण भुगतान की सबसे लोकप्रिय विधि है। ब्यूहवर ने ऋण परिवर्तन की परिभाषा इस प्रकार दी है– "साधारणतया ब्याज की दरों में आई कमी का लाभ उठाकर अपने ब्याज-भार को कम करने के उद्देश्य से वर्तमान ऋणों को नए ऋणों में बदलने को ही ऋण परिवर्तन कहते हैं।" जब सरकार निश्चित समय पर ऋणों का भुगतान करने में अपने आपको असमर्थ पाती है और उसकी तिथि निकट होती है, तब इस विधि का उपयोग ऋणशोधन हेतु सरकार द्वारा किया जाता है। इस विधि से यद्यपि ऋणभार समाप्त नहीं होता

तथापि उसे भविष्य के लिए टाल दिया जाता है। यद्यपि यह अधिक हो जाता है, क्योंकि बाजार में इन प्रतिभूतियों का मूल्य बढ़ जाता है।

(8) ऋण पुनःशोधन– इस विधि में सरकार नये ऋण चालू कर इससे जो राशि प्राप्त करती है, उससे ही ऋणों का भुगतान किया जाता है। जब सरकार पर ऋणों का अत्यधिक बोझ हो जाता है तब सरकार इस विधि को अपनाती है।

(9) ब्याज की दर में कमी करके– ऋणभार को कम करने के लिये ब्याज दरों में कमी की जाती है, इससे ऋण राशि कम कर ऋण चुकाए जाते हैं। परन्तु यह विधि अधिक लोकप्रिय नहीं है। केवल आन्तरिक ऋणों के सम्बन्ध में ही ऐसा किया जा सकता है। विदेशी ऋणों के लिए यह प्रणाली ठीक नहीं है।

(10) बजट की बचत द्वारा– सार्वजनिक ऋणों का भुगतान बजट की बचतों द्वारा भी किया जा सकता है। सरकार इस राशि से बाजार में अपने बाण्ड तथा ऋणपत्रों को क्रय कर इन्हें रद्द कर देती है और शोधन तिथि के पूर्व ही भुगतान कर देती है। शोधन की विभिन्न विधियाँ देश तथा काल के अनुसार उपयुक्त हुआ करती हैं।

कर या ऋण से आय प्राप्त करने का कौनसा तरीका श्रेष्ठ है, यह आरम्भ से ही विवाद का विषय रहा है। कर से ऋण अच्छे नहीं समझे जाते। पर दोनों ही एक–दूसरे के प्रतियोगी न होकर पूरक हैं। कर और ऋण भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में अलग–अलग प्रयुक्त किए जाते हैं। कभी कर उपयुक्त है, कभी ऋण। बड़ी परियोजनाओं को पूरा करने के लिए ऋण आवश्यक होते हैं।

इकाई-5

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. संघीय वित्त में केन्द्र और राज्यों के बीच साधनों के विभाजन के सम्बन्ध में उत्पन्न समस्याओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर– संघीय वित्तीय व्यवस्था में साधनों का विभाजन की समस्या– संघ तथा राज्य सरकारों के बीच कार्यों का बंटवारा होने के बाद मुख्य समस्या साधनों के बँटवारे की होती हैं, लेकिन आय के साधनों का बँटवारा करते समय निम्नलिखित दो बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए–

(1) आय के स्रोतों के विभाजन की समस्या– संघ व राज्य सरकारों को अनेक प्रकार के कार्य करने होते हैं, जिसके लिए उन्हें साधनों की आवश्यकता होती है, जब दोनों ही शासन व्यवस्थाएँ केवल एक ही साधन से आय प्राप्त करना चाहती हों तो उनके बीच मनमुटाव होना स्वाभाविक है। इसलिए उनके बीच साधनों का बँटवारा कर दिया जाए। अब प्रश्न यह उठता है कि बँटवारे का आधार क्या हो? इस संदर्भ में विभिन्न विद्वानों के अपने–अपने मत हैं।

संघ व राज्यों में साधनों का आदर्श विभाजन विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्तियों के लिए 'राष्ट्रीय न्यूनतम' के सिद्धान्त के आधार पर होना चाहिए। संघीय राज्य में इसे धनी क्षेत्रों से निर्धन क्षेत्रों को हस्तान्तरित करके प्राप्त किया जा सकता है। इन हस्तान्तरणों का आधारभूत कारण आयों की अन्तर्राज्यीय असमनताओं को दूर करना है। यह याद रखना चाहिए कि विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्तियों में आय के वितरण की अत्यधिक

असमानता राष्ट्र की सम्पन्नता के लिए ठीक नहीं है। इन आयों की असमानताओं को लोक वित्त के उपकरण से हस्तान्तरण की न्यायपूर्ण नीति के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

आय के स्रोतों के विभाजन में कार्यकुशलता तथा उपयुक्तता इस बात पर निर्भर करती है कि कर संकुचित है अथवा विस्तृत? करों की प्रकृति विस्तृत होने पर इन पर संघ सरकार का अधिकार होगा। यदि करों की प्रकृति संकुचित हो या कर स्थानीय दशाओं के आधार पर परिवर्तित होते रहें तो यह कर स्थानीय आधार पर अधिक उपयुक्त होगा, परन्तु जहाँ संघ सरकार के द्वारा लगाए जाने वाले करों में प्रशासनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है, वहाँ कुशलता की दृष्टि से करों को राज्य सरकार के द्वारा लगाया जाना चाहिए और जहाँ ऐसी कठिनाई न हो, वहाँ संघ सरकार करारोपण करे। इस प्रकार कार्यकुशलता और उपयुक्तता के सिद्धान्तों के अनुसार एक देश के आय के साधनों को निम्न तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) संघ सरकार के आय के साधन,
(2) राज्य सरकारों के आय के साधन तथा
(3) समवर्ती आय के साधन, जिन पर दोनों सरकारें कर लगा सकती है। भारतीय संविधान में आय के मतों का स्पष्ट विभाजन किया गया है। इससे इन दोनों के बीच कभी–कभी टकराव पैदा नहीं हुआ है, परन्तु आज अनेक राज्य सरकारें केन्द्र से आर्थिक वित्तीय अधिकारों की माँग करने लगी है।

(2) आय व आय में समायोजन– संघीय शासन व्यवस्था में यह प्रयत्न किया जाता है कि संघ तथा राज्यों के बीच में साधनों का बँटवारा इस प्रकार होना चाहिए कि प्रत्येक को इतने साधन उपलब्ध हों कि वे अपने खर्चों के लिए आत्मनिर्भर हो सकें। देखने में आता है कि संघ सरकार अपने पास लोचदार आय के स्रोतों को रखती है, जबकि आय की बेलोचदार मदें राज्य सरकारों के पास होती हैं। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि जब तक राज्य व संघ सरकार के बीच वित्तीय समायोजन सुव्यवस्थित नहीं हो जाता है, तब तक राज्य व संघ सरकार के बीच वित्तीय समायोजन सुव्यवस्थित नहीं हो पाता है, तब तक संघीय व्यवस्था सही ढंग से कार्य नहीं कर सकती है। इसीलिए वित्तीय आयोग की सहायता से संघ सरकार प्रत्येक 5 वर्ष के बाद राज्यों की स्थिति का अध्ययन कराती है। राज्यों की स्थिति को ध्यान में रखते हुए उनके बीच सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

प्रश्न–2. राज्यों के बीच वित्तीय समायोजन के सिद्धान्त को समझाइए।

उत्तर– वित्तीय समायोजन के सिद्धान्त– वित्तीय समयोजन के प्रमुख सिद्धान्त निम्नवत् है–

(1) प्राकृतिक साधन– जिस राज्य में अधिक मात्रा में प्राकृतिक साधन उपलब्ध हों, वहाँ पर उन साधनों के विकास के लिए अधिक मात्रा में वित्तीय साधनों का होना आवश्यक है और ऐसे राज्यों को अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। अधिक सहायता प्राप्त होने पर ही वहाँ पर उपलब्ध साधनों का पूर्णरूपेण विकास संभव हो सकता है।

(2) जलवायु व सिंचाई– जिस राज्य में मानसून ठीक समय पर न आने पर सूखे की स्थिति हो, वहाँ पर सिंचाई कार्यों पर अधिक धन व्यय करना होता है। इसी प्रकार यदि अतिवृष्टि के कारण बाढ़ आ सकती है तो बाढ़ पीड़ितों की सहायता में भी अधिक धन की आवश्यकता होगी। ऐसे राज्यों में अधिक सहायता प्रदान करनी चाहिए।

(3) जनसंख्या का आकार– जिस राज्य में जनसंख्या अधिक होती है, वहाँ पर व्यय भी अधिक होते हैं और सरकार को अधिक सुविधाओं की व्यवस्था करनी होती है। अतः ऐसे राज्यों को अधिक सहायता प्रदान की जानी चाहिए।

(4) आर्थिक विकास की स्थिति– जो राज्य आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होते हैं, उनके विकास के लिए अधिक धन की आवश्यकता होती है। अतः ऐसे पिछड़े राज्यों को विकसित राज्यों की तुलना में अधिक मात्रा में धनराशि प्राप्त होनी चाहिए, जिससे उनका आर्थिक विकास सुविधापूर्वक किया जा सके।

(5) कर–देय क्षमता– जिन राज्यों में नागरिकों के निर्धन होने के कारण करदान क्षमता कम हो तो ऐसे राज्यों को अधिक धनराशि व सहायता प्रदान की जानी चाहिए, इसके विपरीत, जो राज्य आत्मनिर्भर हो, उन्हें किसी भी प्रकार की सहायता नहीं दी जानी चाहिए।

प्रश्न–3. केन्द्र तथा राज्यों के बीच किये जाने वाले साधनों के आवंटन के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये। भारतीय संघीय वित्त के संदर्भ में विवेचना कीजिये।

अथवा

भारत के संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के वर्तमान वित्तीय सम्बन्धों पर प्रकाश डालिये।

अथवा

'भारतीय संविधान में केन्द्र शासन के वित्तीय अधिकार गुप्त एवं विवृत–प्रत्यक्ष एवं परोक्ष हैं, जबकि राज्य शासनों के अधिकार सीमित हैं।' इस कथन की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

अथवा

क्या यह सत्य है कि भारतीय संविधान में आय के अधिक लोचदार साधन केन्द्र के पास हैं, जबकि कम लोचदार एवं न बढ़ने वाले आय के साधन राज्यों के पास हैं? उदाहरण सहित विवेचना कीजिये।

अथवा

क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि भारत में संघात्मक वित्त क्रमशः एकात्मक स्वभाव का हो गया है?

उत्तर– भारत में सर्वप्रथम वित्तीय विकेन्द्रीयकरण का आरम्भ सन् 1919 के सुधार अधिनियम से हुआ। इस अधिनियम में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की आय साधनों को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् कर दिया गया था। इसके बाद सन् 1935 के भारत शासन अधिनियम द्वारा प्रान्तीय स्वशासन को अधिक मूर्तरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। इस अधिनियम के द्वारा केन्द्र तथा प्रान्तों के आय-स्त्रोतों का तथा कार्यों का विभाजन कर दिया गया। यद्यपि इसका आधार सन् 1919 का भारत शासन कानून ही रहा। 26 जनवरी, 1950 को स्वतंत्र भारत का नया संविधान लागू हुआ। इसमें केन्द्र तथा राज्यों के बीच उत्तरदायित्व का नये सिरे से विभाजन हुआ। संविधान निर्माताओं ने केन्द्र को सशक्त बनाने तथा साथ में राज्यों को वित्तीय स्त्रोत देने की सीमाओं का महत्व स्वीकार किया। संविधान में राष्ट्रीय महत्व के सभी कार्य केन्द्र को सौंपे गये हैं, जैसे– सुरक्षा, अणुशक्ति, विदेशी मामले, रेलें, राष्ट्रीय राजमार्ग, वायु परिवहन, समुद्री यातायात एवं जहाजरानी, डाक–तार, नोट प्रकाशन, सिक्का ढलाई, रिजर्व बैंक, विदेशी व्यापार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, बैंक तथा बीमा

कम्पनियाँ, खनिज साधनों का विकास, भारी एवं आधारभूत उद्योग आदि। दूसरी ओर स्थानीय महत्व के सभी कार्य राज्यों को दिये गये, जैसे– पुलिस, जेल, न्याय व्यवस्था, शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई, विद्युत, वन, मत्स्यपालन, सहकारिता, स्थानीय स्वशासन, ग्रामीण तथा सामुदायिक विकास, राज्य का आन्तरिक व्यापार तथा उद्योग आदि।

केन्द्र के दायित्व 'संघीय सूची' में तथा राज्यों के दायित्व 'राज्य सूची' में वर्णित हैं। अन्तर्राज्यीय स्वभाव के कार्य 'समवर्ती सूची' में वर्णित हैं, जैसे– औद्योगिक एकाधिकार संस्थायें, श्रम–विवाद, सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक नियोजन, मिलावट, श्रमिक संघ, मूल्य नियंत्रण, कारखाना तथा छापेखाने आदि। इन पर नियम बनाने का अधिकार दोनों संगठनों को है तथापि यदि केन्द्र कोई नियम बनाता है तब राज्यों की अपेक्षा उसे वरीयता मिलेगी।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत साधनों का बंटवारा– भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्यों के बीच करारोपण के अधिकार का बंटवारा निश्चित सूचियों के आधार पर किया गया है। केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्ध के तीन आधार हैं–

(i) केन्द्र तथा राज्यों के बीच आय स्त्रोतों का स्पष्ट विभाजन का होना।

(ii) कुछ करों का संघ द्वारा लगाया जाना और वसूलियों को केन्द्र तथा राज्यों के बीच विभाजित करना।

(iii) कुछ कर केन्द्र द्वारा आरोपित किये जाकर प्राप्त किये जाना, किन्तु प्राप्तियों को राज्यों को वितरित कर देना। आय स्त्रोतों का विभाजन इस प्रकार है–

(1) संघीय आय या आय के संघीय साधन– रेल, तार, डाक, टेलीफोन, बेतार के तार, प्रसारण तथा संचार के अन्य स्वरूप, सीमा शुल्क, निगम कर, कम्पनी पूंजी पर कर आदि स्त्रोतों से प्राप्त आय पर एकमात्र अधिकार संघ या केन्द्र सरकार का है।

(2) राज्यों की आय के साधन– मालगुजारी, कृषि आयकर, नशीली वस्तुओं पर उत्पादन कर, विक्रय कर, मनोरंजन आदि साधनों से प्राप्त आय पर पूर्णतया राज्य सरकारों का अधिकार है।

(3) विभाजित आय के साधन– इस प्रकार की आय प्राप्त तो केन्द्र द्वारा की जाती है, किन्तु प्राप्तियों को राज्यों को तथा केन्द्र सरकार के बीच वितरित कर दिया जाता है। इसके अन्तर्गत कृषि आय को छोड़कर अन्य आय पर कर, नशीली तथा श्रृंगार वस्तुओं को छोड़कर अन्य वस्तुओं के उत्पादन पर कर।

(4) कुछ कर आरोपित तो केन्द्र सरकार द्वारा होते हैं और वसूल किये जाते हैं लेकिन समस्त आय राज्य सरकारों को सौंप दी जाती है, संविधान की धारा 269 के अन्तर्गत ये कर हैं– मृत्यु कर, रेल यात्रा या सामान पर मार्ग कर, समुद्री मार्ग एवं वायु मार्ग द्वारा आने वाली वस्तुओं पर सीमान्त कर।

(5) कुछ कर संघ द्वारा लगाये जाते हैं परन्तु उनका संग्रह तथा प्राप्तियाँ राज्यों के अधिकार में आती हैं– इन करों के अन्तर्गत स्टाम्प शुल्क तथा औषधि व श्रृंगार सम्बन्धी सामग्रियों पर उत्पादन कर।

संघ सरकार की समूची आय 'भारत की संचित निधि' में राज्यों की समूची आय 'राज्य संचित निधि' में जमा की जाती है। संविधान के अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्य सरकारों को अपनी

आवश्यकताओं के समय ऋण लेने का अधिकार भी प्राप्त है। राज्य सरकारें केन्द्र सरकार से भी ऋण प्राप्त कर सकती हैं।

वित्तीय समायोजन या वित्तीय सन्तुलन के तत्व– भारतीय संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय सन्तुलन स्थापित करने की दृष्टि से तीन तत्वों का उल्लेख किया गया है–

(i) कृषि आय को छोड़कर अन्य प्रकार की आय पर लगने वाले कर तथा संघीय उत्पादन कर से प्राप्त राजस्व को केन्द्र तथा राज्यों के बीच बाँटने की व्यवस्था की गई है।

(ii) संघ सरकार को राज्य सूची में सम्मिलित किये गये करों पर अधिभार लगाने का अधिकार दिया गया है। इन अधिभारों से प्राप्त आय का उपयोग करने का अधिकार भी संघ सरकार को ही है।

(iii) राज्य सरकारों को केन्द्र की ओर से सहायक अनुदान दिये जाने की व्यवस्था है। ये अनुदान भारत की संचित निधि में से उन राज्यों को दिये जाते हैं, जिन्हें उनकी आवश्यकता होती है।

भारतीय संविधान की धारा 280 के अन्तर्गत संविधान लागू होने की तिथि से दो वर्ष के भीतर और तदुपरान्त प्रति 5 (पाँच) वर्ष बाद राष्ट्रपति द्वारा वित्तीय आयोग नियुक्त की जाने की व्यवस्था है। अब तक 9 (नौ) वित्त आयोग नियुक्त किये जा चुके हैं। संविधान के अनुसार इनके कार्य इस प्रकार हैं–

(i) एक ओर केन्द्र और राज्यों के बीच तथा राज्यों के बीच विभाजित होने वाली आय के वितरण का आधार निश्चित करना।

(ii) भारत की संचित निधि में से राज्यों को दिये जाने वाले सहायक अनुदान के बारे में सिद्धान्त निश्चित करना।

(iii) भारत सरकार तथा विभिन्न राज्य सरकारों के बीच हुये वित्तीय समझौतों को जारी रखने अथवा परिवर्तन और संशोधन की सिफारिश करना।

(iv) राष्ट्र के वित्तीय हित में राष्ट्रपति द्वारा सूचित किसी अन्य विषय पर विचार करना।

केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध– भारतीय संविधान के अन्तर्गत कार्य विभाजन तथा सुचारु व्यवस्था के लिये केन्द्र तथा राज्यों के बीच दायित्वों (कार्यों) का विभाजन तथा कराधान की व्यवस्था अत्यन्त सावधानीपूर्वक की गई है। राज्यों को करारोपण के लिये इस प्रकार के विषय दिये गये हैं जिनका सम्बन्ध भूमि तथा कृषि से है, जैसे– मालगुजारी, कृषि आय पर कर, कृषि भूमि पर कर (सम्पत्ति-कर) आदि। इसी प्रकार नशीली वस्तुओं, व्यवसायों, गाड़ियों, सड़क, नदी, यात्राओं, स्थानीय व्यापार, मनोरंजन आदि पर करारोपण का अधिकार दिया गया है। आजकल बिक्री कर तथा आबकारी कर ही राज्य सरकारों की आय के मुख्य स्त्रोत हैं।

दूसरी ओर अन्तर्राज्यीय तथा औद्योगिक गतिविधियों पर कर लगाने का अधिकार केन्द्र को दिया गया है, जैसे– कृषि आय से अन्य आय पर कर, निगम कर, सीमा शुल्क, उत्पादन शुल्क, पूँजीगत लाभ पर कर, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर कर, समाचार पत्रों और इनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर, अन्तर्राज्यीय वस्तुओं के व्यापार पर कर आदि। इसी

प्रकार समवर्ती सूची में सम्मिलित विषयों तथा राज्यों की सूची में सम्मिलित वस्तुओं पर अधिभार लगाने का अधिकार भी केन्द्र सरकार को है।

संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यों की आय प्राप्ति के साधन उनके दायित्वों को देखते हुये अपर्याप्त हैं। आय के लोचदार साधन केन्द्र के पास हैं जबकि कम लोचदार और न बढ़ने वाली आय के साधन राज्यों के पास हैं।

इसीलिये संविधान में केन्द्र से राज्यों की ओर साधनों को अन्तरण की व्यवस्था है। यह अन्तरण दो प्रकार से सम्भव है– (i) सहायक अनुदानों द्वारा, तथा (ii) करों की आय के विभाजन द्वारा। जिन कर की प्राप्तियों से राज्य को हिस्सा मिलता है उनका विवरण धारा 268 में किया गया है। संविधान की धारा 269 में उन करों का उल्लेख है जिन करों को लगाना व वसूल करना तो केन्द्र के पास है तथापि आय राज्यों को सौंप दी जाती है।

केन्द्र की ओर से राज्यों को मिलने वाली अनुदान सहायता का उल्लेख धारा 275 और 282 में किया गया है। इसके साथ ही वित्तीय आयोग केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों का एकमात्र तथा वास्तविक निर्धारक है। राज्यों को आयकर और केन्द्रीय उत्पाद शुल्क की प्राप्तियों में से हिस्सा तथा योजना अन्य कार्यों के लिये सहायक अनुदान का निर्धारण वित्त आयोग की अनुशंसाओं पर होता है, जबकि राज्यों को केन्द्र से ऋण सहायता तथा योजना कार्यों के लिये अनुदानों का निर्धारण योजना आयोग की अनुशसाओं के अनुसार होता है। अनुमान है कि केन्द्र सरकार के आय स्त्रोत से कम से कम 1/4 या 1/3 भाग राज्यों को हस्तान्तरित होता है जो उनके कुल व्यय का 1/5 से 1/4 भाग तक होता है। वित्त आयोग राज्यों के बजट घाटे की पूर्ति के लिये भी सहायता की अनुशसा केन्द्र से करते है। इससे इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि राज्य सरकारें केन्द्रीय सहायता पर अधिक निर्भर होती जा रही है। योजना के कार्यक्रमों के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिये वे केन्द्र पर निर्भर है। यदि उन्हें अतिरिक्त सहायता नहीं मिलती तब वे या तो नये कार्यक्रम लागू नहीं करतीं या योजना अन्य व्ययों में कटौती करती है या फिर बजट का घाटा बढ़ाती है। इसीलिये उनकी माँग पर केन्द्र ने सरकारिया आयोग का गठन किया है।

विगत वर्षों में पचवर्षीय योजनायें भारी विनियोजन के साथ समाप्त हुईं। इस समय आठवीं पंचवर्षीय योजना आरम्भ हो चुकी है। इन योजनाओं में सम्मिलित कार्यक्रमों को पूरा करने के लिये राज्यों को केन्द्र से मिलने वाली वित्तीय सहायता (विभाजित करों में राज्यों का हिस्सा तथा अनुदान) में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। अब राज्य सरकारों को आयकर, आस्ति कर और केन्द्रीय उत्पादन शुल्क की प्राप्तियों में से अधिक हिस्सा मिल रहा है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों को केन्द्र से मिलने वाले सहायक अनुदानों में पर्याप्त वृद्धि होती रही है। सन् 1951–52 में राज्य सरकारों को केन्द्र से 38.8 करोड़ रुपये की अनुदान सहायता प्राप्त हुई थी, जो 1981–82 में बढ़कर 2,980 करोड़ रुपये हो गई। सन् 1985–89 में राज्यों को अनुदान के रूप में 1,555.83 करोड़ रुपये प्राप्त होंगे। योजनाकाल में सहायक अनुदानों की अपेक्षा विभाजित करों का हिस्सा व महत्व घटता गया है। राज्यों के योजनागत् व्यय में वृद्धि के फलस्वरूप उन्हें मिलने वाले योजना-अनुदानों में भी वृद्धि हुई है। किन्तु इन अनुदानों से अधिक केन्द्रीय ऋणों में वृद्धि हुई है। इस समय राज्य सरकारों की कुल

देनदारियों में केन्द्र से प्राप्त ऋणों का भाग 3/4 है। कुल मिलाकर राज्य सरकारों के बजटों में घाटे की प्रवृत्ति बढ़ी है। उनकी नगद निधियों में तेजी से ह्रास हुआ है तथा वित्तीय सहायता के लिये केन्द्र पर निर्भरता बढ़ी है। अतः कार्य कुशलता, उत्तरदायित्व और स्वावलम्बन की दृष्टि से संघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों को स्वस्थ नहीं माना जा सकता।

राज्य सरकारों की इन बढ़ती हुई आवश्यकताओं को देखते हुये उनकी आय के वर्तमान साधन न केवल अपर्याप्त हैं, अपितु स्थिर और बेलोचदार भी हैं। उदाहरणार्थ- राज्यों को मालगुजारी और स्टाम्प शुल्क से मिलने वाली आय लगभग स्थिर बनी हुई है तथा मद्य निषेध की नीति के कारण आबकारी कर से प्राप्त आय में ह्रास हुआ है। दूसरी ओर संविधान के अन्तर्गत राज्यों को जो कार्य और दायित्व सौंपे गये हैं वे व्यय की दृष्टि से लोचदार प्रकृति के है, जैसे- शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर व्यय। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों के पास जो महत्वपूर्ण आय के साधन हैं उनका राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण उपयोग नहीं किया जा रहा है, जैसे- कृषि आय पर कर। अतः राज्य सरकारों को अपने दायित्व निर्वहन के लिये केन्द्र से ऋण व अनुदानों पर निर्भर रहना पड़ता है जो संघात्मक को एकात्मक स्वभाव प्रदान करता है।

प्रश्न-4. संघीय वित्त के सिद्धान्त एवं उनकी विशेषतायें बतलाइये। एकात्मक वित्त तथा संघीय वित्त में भेद कीजिये।

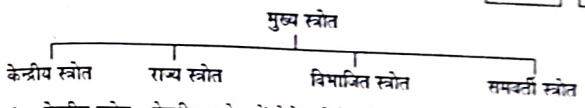
अथवा

संघीय वित्त-व्यवस्था का क्या अर्थ है? इस वित्त व्यवस्था के निर्देशक सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये।

उत्तर- किसी भी देश में दो प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में से किसी एक प्रकार की व्यवस्था सम्भावित हो सकती है- एकाकी और संघीय शासन। एकाकी शासन व्यवस्था में सरकार का संचालन केन्द्रीय स्तर पर एक स्थान से होता है जबकि संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार के संचालन की 2 भिन्न-भिन्न इकाइयाँ हुआ करती हैं- एक केन्द्रीय तथा दूसरी प्रान्तीय। ऐसी प्रान्तीय सरकारों को भी अपने-अपने क्षेत्रान्तर्गत कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता हुआ करती है।

निष्कर्ष यह है कि- जब किसी देश में केन्द्रीय सरकार तथा इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारें या राज्य सरकारें भी होती हैं जिन्हें अपनी राज्य की सीमा में इच्छानुसार शासन करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है, किन्तु कुछ मामलों में वे केन्द्र से सम्बन्धित होती है, तो यह शासन-व्यवस्था संघीय मानी जाती है। सर रोबर्ट गेरिन ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है- ''संघ एक प्रकार की सरकार है जिसमें सर्वोत्तम सत्ता या राजनीतिक शक्तियों का विभाजन केन्द्र तथा स्थानीय सरकारों में इस प्रकार होता है, जिसमें प्रत्येक राज्य अपने क्षेत्र में दूसरों से स्वतंत्र होता है।'' भारत के 26 जनवरी, 1950 के दिन लागू संविधान के अन्तर्गत भारत में इसी प्रकार के संघीय राज्य की स्थापना की गई है।

संघीय कार्यक्षेत्र- संघीय वित्त-प्रणाली में संघ सरकार तथा राज्य सरकारों की आय पृथक्-पृथक् संचित कोषों में जमा होती है। प्रायः इसके लिये एक निश्चित् विभाजन रेखा संविधान में ही तैयार कर दी जाती है। भारतीय गणराज्य के संविधान में भी ऐसी ही व्यवस्थायें की गई हैं।



1. **केन्द्रीय स्त्रोत-** केन्द्रीय स्त्रोत में ऐसे स्त्रोतों की आय रखी जाती है जिससे पूरे राष्ट्र पर प्रभाव पड़ता है। वह वर्णित मदों द्वारा आय प्राप्ति के लिये पूर्ण स्वतंत्र होता है। रेल्वे, डाक व तार, प्रसारण, संचार, सीमा-शुल्क, निगम व कम्पनी कर, उत्पादन, विनिमय (विदेशी), अंश बाजार का मुद्रांक शुल्क आदि इस स्त्रोत की मुख्य मदें हुआ करती हैं।
2. **राज्य स्त्रोत-** इस स्त्रोत से प्राप्त आय का उपयोग केवल राज्य सरकारें स्वतः करने के लिये स्वतंत्र होती हैं। इसमें कृषि आय पर कर, मालगुजारी, बिक्रीकर, मनोरंजन कर, भू-राजस्व, भूमि तथा भवनों पर कर, खनिज सम्पदा पर कर, पूँजी कर, मादक द्रव्यों पर कर, विद्युत उत्पादन पर कर, विज्ञापन तथा उपभोग कर, सड़क कर, उत्पादन तथा भाड़े पर कर आदि मुख्य होते हैं।
3. **विभाजित कर स्त्रोत-** इसमें कर लगाने तथा वसूल करने के अधिकार तो केन्द्र के पास होते हैं परन्तु सम्पूर्ण आय राज्य सरकारों को व्यय करने हेतु दे दी जाती है। इस आय का विभाजन कुछ निश्चित नियम बनाकर या वित्त आयोगों या समितियों को नियुक्त कर उनकी सिफारिश पर किया जाता है। इसमें गैर कृषि आय पर कर, उत्पादन कर, भाड़े पर कर, विभाजन कर आदि आ जाते हैं फिर समय-समय पर इसे निश्चित किया जाता है।
4. **समवर्ती आय स्त्रोत-** इसके अन्तर्गत केन्द्र के द्वारा करारोपित कर आते हैं परन्तु इनकी वसूली राज्य सरकारें करती हैं, वे उन्हीं के आय-स्त्रोत माने जाते हैं। जैसे- स्टाम्प कर, सौन्दर्य प्रसाधन कर।

इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के आय-स्त्रोतों का विभाजन भिन्न-भिन्न तरीकों से कर केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्त सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। **प्रश्न यह है कि न्यायोचित व्यवस्था क्या हो? संघ तथा राज्यों के बीच इस प्रकार का विभाजन होना चाहिये कि उनमें प्रतिद्वन्द्विता न हो और उनके कार्य सुचारु रूप से संचालित होते चले जावें। इसी के लिये संघीय वित्त सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है।**

संघीय वित्त सिद्धान्त- डा. आर.एन. भार्गव के अनुसार, ''संघीय वित्त व्यवस्था का अर्थ संघ तथा राज्यों के वित्त और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से है।'' संघ तथा राज्यों के बीच विभाजित सेवाओं या कार्यों के सुचारु संचालन के लिये आवश्यकता होती है पर्याप्त स्त्रोतों की, जिससे इनका संचालन सुचारु रूप से हो सके। इस सम्बन्ध में प्रायः दो समस्यायें सामने आती है-

(1) विभिन्न सरकारों के बीच आय स्त्रोतों को किस प्रकार विभाजित किया जावे।
(2) सरकारों की आय तथा आवश्यकता के बीच सन्तुलन किस प्रकार स्थापित किया जावे। इसके हल हेतु ही संघीय वित्त सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है-

(i) स्वतंत्रता का सिद्धान्त, (ii) एकरूपता का सिद्धान्त, (iii) यथेष्टता तथा लोच का सिद्धान्त, (iv) प्रशासकीय मितव्ययता तथा कुशलता का सिद्धान्त।

(i) स्वतंत्रता का सिद्धान्त– संघीय वित्त का प्रथम सिद्धान्त उन राज्यों व केन्द्र इकाई की स्वतंत्रता का है जिसके अन्तर्गत वे बिना एक-दूसरे के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप किये अपने साधन प्राप्त कर सकें और उनका प्रयोग कर सकें। संघ सरकार की प्रत्येक इकाई कर लगाने, उन्हें वसूल करने तथा उनका प्रयोग करने के लिये स्वतंत्र होनी चाहिये। जैसे– भारत में आयकर केन्द्रीय स्त्रोत है किन्तु आय का विभाजन राज्यों के लिये होता है जबकि मनोरंजन कर पूर्णतया राज्य सरकारें प्राप्त करती हैं।

इसमें केन्द्रीय सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं है। यद्यपि व्यावहारिक आधार पर पूर्ण स्वतंत्रता भी एक कल्पना होती है, क्योंकि राज्य सरकारों को विभिन्न आकस्मिक परिस्थितियों के लिये केन्द्र पर निर्भर रहना ही पड़ता है जैसे– अनुदान आदि। इसके अतिरिक्त केन्द्र के पास स्त्रोत अधिक लोचदार भी होते हैं जबकि बेलोच व्यय राज्य सरकारों के पास होते है।

(ii) एकरूपता का सिद्धान्त– संघीय वित्त व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार की वित्तीय नीतियों का संचालन बिना किसी भेदभाव एवं पक्षपात के होना चाहिये। प्रत्येक राज्य सरकार को पर्याप्त स्त्रोत मिलने चाहिये। उनकी आवश्यकताओं के अनुसार समय-समय पर उनकी विशेष स्थितियों का भी ध्यान रखा जाना चाहिये। क्योंकि कभी-कभी केन्द्र तथा राज्यों में भिन्न-भिन्न दलों की सरकारें होती हैं और वे केन्द्र पर पक्षपात का आरोप लगा सकती है जैसा कि भारत में राज्य सरकारों की ओर से इस प्रकार के आरोप प्रायः लगाये जाते रहे हैं। यद्यपि व्यवहार में राज्यों की जनसंख्या, पिछड़ापन, कर वसूली का आधार समान नहीं होते। अतः आर्थिक विकास और सन्तुलन के लिये विशेष व्यवहार भी केन्द्र को करना पड़ता है जैसे– असम व म.प्र. में महाराष्ट्र, हरियाणा जैसे साधन उपलब्ध नहीं। जबकि इनमें पिछड़ा क्षेत्र (आदिवासी) सर्वाधिक है।

(3) यथेष्टता या लोच का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार केन्द्र तथा राज्य सरकारों को आय प्राप्त करने के इतने साधन मिलने चाहिये कि वे साधनों की कमी का अनुभव न करें। वे अपनी वर्तमान तथा आवश्यक भावी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। आय के साधन समय की आवश्यकताओं के अनुरूप लोचपूर्ण होने चाहिये। जैसे– युद्ध, अकाल, मन्दी के समय केन्द्र के पास पर्याप्त साधन होने आवश्यक होते हैं।

डा. भार्गव ने लिखा है– "साधनों के विभाजन से लोचपूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये। क्योंकि कोई भी योजना प्रत्येक आने वाले समय के लिये अन्तिम नहीं हो सकती।

परिवर्तनीय दशाओं में कोई भी योजना समय के मध्य में अप्रचलित हो जावेगी। अतः विभाजन की योजना में इस प्रकार के परिवर्तनों के लिये ऐसे प्रबन्ध होने चाहिये जो राष्ट्रीय हित के लिये महत्वपूर्ण हों।"

(4) प्रशासकीय मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता का सिद्धान्त– डा. आर.एन. भार्गव व प्रो. अदारकर ने इस सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार वित्तीय योजना इस प्रकार की होनी चाहिये कि कर संग्रह में अधिक से अधिक प्रशासनिक क्षमता प्राप्त की जावे और व्यय में मितव्ययिता हो। करारोपण इस प्रकार हो कि करवंचन सम्भव न हो, उद्योग, व्यापार

पर बुरा प्रभाव भी न पड़े। जो कर अन्तरप्रान्तीय प्रकृति के हों उनका प्रबन्ध केन्द्र द्वारा किया जाना उचित होगा, जबकि स्थानीय प्रकृति के कर राज्य सरकारों को दिये जाने चाहिये। उदाहरण के लिये आयकर, सीमाकर तथा उत्पादन कर केन्द्र के पास तथा बिक्री कर राज्यों के पास होने चाहिये। प्रो. सेलिगमेन ने इसके महत्व के बारे में लिखा है– "कोई भी योजना कितनी ही सर्वोत्तम क्यों न हो, कितना ही न्याय पर आधारित हो, यदि इसका प्रशासन ठीक नहीं तो असफल हो जावेगी।"

प्रश्न–5. संघीय वित्तीय–व्यवस्था से आपका क्या आशय है? संघीय वित्त–व्यवस्था के मार्गदर्शी सिद्धान्त बताइये।

अथवा

भारत में केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के मध्य वियमान वित्तीय सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये।

अथवा

संघ तथा राज्य सरकारों के बीच वित्तीय असन्तुलन की मुख्य समस्याएँ एवं इनके समायोजन के उपाय लिखिये।

अथवा

वित्तीय समायोजन का आशय बतलाइये। भारत के संदर्भ में इस प्रक्रिया का उल्लेख कीजिये।

अथवा

संघीय वित्त का क्या अर्थ है? भारत में संघीय वित्त–व्यवस्था का वर्णन कीजिये।

अथवा

संघीय वित्त के अन्तर्गत वित्त–व्यवस्था के निर्देशक सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये।

अथवा

केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय समायोजन के संवैधानिक प्रावधानों की विवेचना कीजिये।

अथवा

भारत में संघ एवं राज्य सरकारों के बीच वित्तीय साधनों के विभाजन तथा समायोजन पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

उत्तर– संघीय शासन के अन्तर्गत अनेक प्रदेशों या राज्यों की सरकारें हुआ करती हैं। इनके बीच अधिकार और कर्त्तव्यों का विभाजन इस प्रकार होता है ताकि प्रत्येक अपने क्षेत्र में कार्य करने के लिये स्वतंत्र रहे। शासन व्यवस्था के इस विभाजन के आधार पर वित्त व्यवस्था को भी दो भागों में बाँटा जाता है– एकात्मक वित्त एवं संघीय वित्त। एकात्मक वित्त की मदों पर आय-व्यय केवल केन्द्र द्वारा किया जाता है, जबकि संघीय वित्त के अन्तर्गत आय तथा व्यय की सभी मदों को केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय शासन के बीच वितरित किया जाता है। प्रत्येक सरकार अपने क्षेत्र में आय-व्यय हेतु स्वतंत्र होती है।

संघीय वित्त विभाजन व्यवस्था इस प्रकार की होती है, ताकि राष्ट्रीय महत्व या सामान्य हित के कार्य, जैसे– विदेशी सम्बन्ध, सुरक्षा, परिवहन, संचार, करेन्सी आदि का नियमन केन्द्र करें तथा स्थानीय महत्व के कार्य, जैसे– कृषि, शान्ति व्यवस्था, शिक्षा तथा स्वास्थ्य का प्रबन्ध राज्य सरकारें करें। इन कार्यों को सम्पादित करने के लिये पर्याप्त वित्तीय साधन दोनों के पास होना आवश्यक है। इसी का अध्ययन संघीय वित्त के अन्तर्गत किया जाता है।

संघीय वित्त व्यवस्था के निर्देशक (मार्गदर्शी) सिद्धान्त– विभिन्न राज्य सरकारों में आय के स्त्रोतों का विभाजन इस प्रकार होना चाहिये ताकि उनकी आय सम्बन्धी आवश्यकताओं के बीच सन्तुलन बना रहे और इसके लिये ही संघीय वित्त के निम्नलिखित सिद्धान्तों का पालन आवश्यक बतलाया गया है। इनके पालन से समाज को अधिकतम लाभ हो सकता है।

1. **स्वतंत्रता–** संघीय वित्त के अन्तर्गत प्रत्येक सरकार को अपने आन्तरिक वित्तीय मामलों में स्वतंत्रता व स्वायत्तता होनी चाहिये। उसकी आय तथा व्यय के स्त्रोत स्वतंत्र हों। केन्द्र का हस्तक्षेप कम से कम हो, परन्तु विभिन्न राज्यों में स्त्रोतों का वितरण अवश्य ही समुचित तरीकों से होना चाहिये। अन्यथा राज्यों के मध्य असमानता तथा असन्तुलन बना रहेगा।

2. **पर्याप्तता–** प्रत्येक राज्य इकाई के पास पर्याप्त कोष होने चाहिये, ताकि वे अपने कार्यों को सुचारू रूप से सम्पादित कर सकें। उनके साधन लोचपूर्ण होने चाहिये। उनकी बढ़ती जनसंख्या, शिक्षा, स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुरूप उनके साधन भी बढ़ते रहने चाहिये। इसके लिये उन्हें समय-समय पर केन्द्र सरकार से अनुदान मिलते रहना चाहिये।

3. **एकरूपता–** अर्थव्यवस्था में सामान्य महत्व के विषयों पर प्रत्येक संघीय इकाई को समानता के आधार पर अपना-अपना अंशदान केन्द्र को देना चाहिये। राज्यों की योग्यता तथा आर्थिक दशा के आधार पर अंशदान देने से उन छोटे राज्यों को सहायता मिलेगी जिनके आर्थिक स्त्रोत कम हैं। एकरूपता के लिये प्रत्यक्ष व परोक्ष करों से प्राप्त आय के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

4. **मितव्ययता का सिद्धान्त–** प्रशासकीय कुशलता के द्वारा साधनों के प्राप्त करने तथा व्यय करने में मितव्ययता प्राप्त की जा सकती है। करों का संग्रह राज्य सरकारें अधिक कुशलता से कर सकती हैं। किन्तु कुछ प्रत्यक्ष करों जैसे- आयकर का संग्रह केन्द्र अधिक कुशलता से कर सकता है, अतः उनके लगाने व वसूल करने के समुचित अधिकार उनके पास होने चाहिये। करारोपण और वसूली में इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिये ताकि उद्योग, व्यापार पर बुरा प्रभाव न पड़े और आय भी अधिकतम हो। करवंचन रोका जाना चाहिये और वसूली लागत न्यूनतम आनी चाहिये। यदि इन सिद्धान्तों का पालन होगा तब व्यवस्था सुचारू रूप से चलेगी।

वित्तीय साधनों के विभाजन तथा समायोजन की समस्या– संघीय वित्त के अन्तर्गत मूल समस्या आय के विभिन्न साधनों के केन्द्र तथा राज्यों के बीच विभाजन की होती है। साधनों का बँटवारा कार्यों व शक्तियों के अनुसार होना चाहिये तथापि आज के युग में विभिन्न प्रकार के आय-स्त्रोतों की संख्या बढ़ रही है और उनके वसूल करने की मुख्य समस्या है। वसूली राज्यों से की जाती है और व्यय केन्द्र तथा राज्य करते हैं।

राज्यों की अपनी-अपनी आवश्यकतायें भी अलग-अलग हैं। अतः वित्तीय साधनों का विभाजन बड़े सोच-विचारपूर्ण तरीके से किया जाना चाहिये। राष्ट्रीय महत्व के कर केन्द्र लगाये व वसूल करें तथा स्थानीय महत्व के कर राज्य लगावें तथा वसूल करें। इससे- (i) प्रत्येक इकाई आत्मनिर्भर होगी। (ii) प्रत्येक इकाई अपनी आवश्यकतानुरूप वित्त प्राप्त करेगी। (iii) सरकारों में वित्तीय उत्तरदायित्व होगा। साधनों के विभाजन में कोई निश्चित विभाजन

रेखा खींचना कठिन है। दूसरे प्रत्येक राज्य इकाई व केन्द्र को वित्त के बिल्कुल स्वतंत्र स्त्रोत मिलना कठिन है। अतः समायोजन करना आवश्यक हो जाता है। यह समायोजन निम्नलिखित विधियों द्वारा किया जा सकता है–

1. कर आय के विभाजन द्वारा,
2. राज्य अंशदान,
3. अनुपूरक कर,
4. आर्थिक सहायता।

1. **कर आय के विभाजन द्वारा–** प्रथम विधि के अन्तर्गत संघ सरकार द्वारा वसूल किये जाने वाले व लगाये जाने वाले कर होते हैं। दूसरी ओर राज्यों द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत कर होते हैं और कुछ को लगाने व वसूल करने का अधिकार दोनों का होता है। कभी-कभी कुछ कर केन्द्र लगा देती है, परन्तु वसूल कर उनकी आय राज्यों को देती है या वसूली का अधिकार राज्यों को दे देती है। इसमें राष्ट्रीय महत्व और स्थानीय महत्व को ध्यान में रखा जाता है। इसके लिये समय-समय पर वित्त आयोग का गठन इसके बँटवारे हेतु किया जाता है।
2. **राज्य अंशदान–** कभी-कभी केन्द्र की अधिक साधनों की आवश्यकता पड़ती है, तब राज्य सरकारें अपनी सामर्थ्य के अनुसार केन्द्र की सहायता करती है।
3. **अनुपूरक कर–** कभी-कभी एक सरकार मुख्य कर लगा देती है और दूसरी सरकार उस पर अनुपूरक कर लगाकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन एकत्र करती है।
4. **आर्थिक सहायता–** किन्हीं विशेष परिस्थितियों जैसे बाढ़, अकाल, सुरक्षा आदि के लिये केन्द्र राज्यों को विशेष वित्तीय मदद देकर इन समस्याओं का सामना करने में उनकी सहायता करता है। इससे एकरूपता भी आने में मदद मिलती है।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत वित्तीय समायोजन के प्रावधान– 26 जनवरी, 1950 के दिन भारतीय संविधान लागू हुआ जिसमें राज्य केन्द्र के मध्य वित्तीय सम्बन्धों को एक नई दिशा देने हेतु 268 से 300 की धारायें रखी गयी हैं जिनमें आय के स्त्रोतों के वितरण की व्याख्या की गई है इसमें आय स्त्रोतों का विभाजन निम्नलिखित 5 शीर्षकों में है–

1. आय के संघीय स्त्रोत,
2. राज्य सरकारों के स्त्रोत,
3. आय के वे स्त्रोत जो संघ सरकार द्वारा आरोपित होंगे, परन्तु संग्रह राज्य सरकारें करेंगी व आय भी उन्हें ही प्राप्त होगी। जैसे- प्रसाधन-सामग्री पर उत्पाद-शुल्क, स्टाम्प शुल्क आदि।
4. वे कर जो संघ सरकार लगायेगी, संग्रह करेगी, परन्तु आय राज्यों में विभाजित होगी। जैसे- उत्तराधिकार पर कर (कृषि सम्पत्ति छोड़कर), रेल, जलपान, जायदाद की आय।
5. वे कर जो संघ सरकार द्वारा लगाये जायेंगे, वसूल किये जायेंगे, परन्तु प्राप्तियाँ दोनों के मध्य वितरित होंगी। इसमें आयकर तथा केन्द्रीय उत्पाद शुल्क आते हैं।

संविधान की धारा 280 के अन्तर्गत प्रति पाँच वर्ष बाद वित्त आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा, जो विभाजन पर विचार करेगा।

प्रश्न–6. स्थानीय वित्त से क्या आशय है? भारत में स्थानीय संस्थाओं की आय प्राप्त करने के कौन–कौन से साधन हैं?

अथवा

स्थानीय वित्त के स्रोतों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– स्थानीय वित्त से आशय– स्थानीय वित्त से आशय स्थानीय संस्थाओं (निगम, नगरपालिकाएँ, जिला परिषदें, ग्राम पंचायत आदि) की वित्तीय समस्याओं से है। जिस प्रकार केन्द्र व राज्य सरकारों के कार्यक्षेत्र एवं आय–व्यय के साधन निश्चित होते हैं, उसी प्रकार से स्थानीय संस्थाओं का कार्यक्षेत्र भी निश्चित होता है। स्थानीय सरकारें संघीय शासन प्रणाली की अंतिम श्रृंखला है और इस दृष्टि से इन सरकारों की वित्तीय समस्याएँ भी संघ तथा राज्य सरकारों के समान ही हैं। स्थानीय सरकारों की समस्याओं का आकार तथा प्रकृति संघ व राज्य सरकारों की समस्याओं से कम अवश्य है, परन्तु यह समस्याएँ महत्वहीन नहीं हैं।

स्थानीय संस्थाओं की वित्त व्यवस्था– स्थानीय संस्थाओं के वित्तीय साधनों (आय के स्रोतों) को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे–

(1) आय के कर स्रोत, (2) गैर कर स्रोत।

इनका विस्तृत विवरण निम्नवत् है–

कराधान– स्थानीय संस्थाओं के लिए प्रत्येक राज्य में कुछ कर छोड़ दिए गए हैं। ये संस्थाएँ विभिन्न प्रकार के कर लगाकर आय प्राप्त करती हैं। इन करों को दो भागों में–

(1) प्रत्यक्ष कर एवं (2) परोक्ष कर में बाँटा जा सकता है।

(1) प्रत्यक्ष कर– इसके अन्तर्गत निम्नलिखित करों से प्राप्त आय शामिल होती हैं–

(i) सम्पत्ति कर– यह स्थानीय करों में सबसे महत्वपूर्ण होता है तथा ये कर चार प्रकार के होते हैं– (1) भवनों पर कर, (2) सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर, (3) समुन्नति कर एवं (4) भूमियों पर उप–कर।

(ii) सेवा कर– जलपूर्ति, शिक्षा व सड़कों की सफाई व्यवस्था के लिए लगाए जाने वाले करों को सेवा कर कहा जाता है।

(iii) वृत्तियों एवं व्यापार पर कर– लगभग सभी राज्यों में नगर पालिकाओं एवं नगर निगमों द्वारा वृत्तियों और व्यापारी पर कराधान किया जाता है। तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश और पश्चिम बंगाल के स्थानीय करारोपण में इनका विशेष महत्व है।

(iv) अन्य कर– उपर्युक्त करों के अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं द्वारा व्यावसायिक संस्थानों पर लायसेंस शुल्क, जानवरों व गाड़ियों पर कर, हाट बाजारों में लगाई जाने वाली दुकानों पर कर, मार्ग शुल्क, शिक्षा एवं जल के उपभोक्ताओं आदि से भी कर वसूल किया जाता है।

(2) परोक्ष कर– इसमें निम्न करों से प्राप्त आय सम्मिलित होती हैं–

(i) चुंगी कर– किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग करने, प्रयोग करने या फिर वहाँ पर विक्रय हेतु लाए जाने वाले पदार्थों पर लगाए जाने वाले कर को चुंगी कर कहते हैं। यह नगरपालिकाओं की आय का प्रमुख साधन होता था। अब अधिकांश राज्यों ने इसे समाप्त कर दिया गया है। इसके स्थान पर राज्य सरकारें जीएसटी से प्राप्त आय में से स्थानीय निकायों को क्षतिपूर्ति देती हैं।

(ii) सीमान्त कर– विशेष स्थानीय क्षेत्र में माल के आवागमन तथा यात्रियों पर लगाए जाने वाले कर को सीमान्त कर कहते हैं। यह प्रत्येक स्थिति में वस्तुओं के किसी क्षेत्र–विशेष में आने–जाने पर लगाया जाता है। इस कर को चुंगी कर की तुलना में श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि सीमान्त कर के लगाने पर वस्तुओं के क्षेत्र से बाहर जाते समय कर की राशि को वापस करने की समस्या नहीं रहती। इसके साथ ही कर की राशि को रेल भाड़े के साथ वसूल किया जा सकता है।

(iii) टर्मिनल टॉल– इसे नहरों और सड़कों से नगरों में आने वाले माल पर लगाया जाता है।

(iv) करों के भाग का बँटवारा– कुछ कर राज्य सरकारों के द्वारा लगाए एवं वसूल किए जाते हैं और उनके द्वारा स्थानीय संस्थाओं के हिस्से का बँटवारा कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ भूमि पर कर (मालगुजारी) मोटर गाड़ियों पर कर, मनोरंजन कर आदि से प्राप्त आय का कुछ भाग राज्य सरकार स्थानीय संस्थाओं को देती है, परन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति के कर बहुत कम हैं।

स्थानीय संस्थाओं के गैर–कर स्रोतों में निम्न साधन शामिल हैं–

(1) राज्य सरकारों से प्राप्त सहायता अनुदान– वर्तमान में सहायता अनुदान स्थानीय संस्थाओं की आय का एक प्रमुख भाग हो गया है। प्रायः सभी राज्यों द्वारा स्थानीय संस्थाओं को सहायता अनुदान दिए जाते हैं। इन अनुदानों का अधिकांश भाग शिक्षा, स्वास्थ्य, संदेशवाहन, सेवाओं को ही प्राप्त होता है। ये अनुदान राज्य की वित्तीय स्थिति पर निर्भर करते हैं अर्थात् राज्य की आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर स्थानीय निकायों को मिलने वाली सहायता अधिक होगी तथा अन्यथा इसके विपरीत हो सकती है।

(2) ऋण एवं उपादान– स्थानीय संस्थाओं को जलपूर्ति, नालियों की व्यवस्था, गंदी बस्तियों की सफाई जैसे कार्यों के लिए ऋण एवं उपादान प्राप्त करने होते हैं, किन्तु यह ऋण उन्हें आसानी से प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि राज्य सरकारों द्वारा इन ऋणों हेतु गारंटी देने की व्यवस्था की जाए।

(3) अन्य साधन– स्थानीय संस्थाएँ कर के अलावा निम्न अन्य स्रोतों से भी आय प्राप्त करती हैं– (1) शिक्षा से आय, (2) विनियोग से आय, (3) अस्पतालों से प्राप्त आय, (4) बाजारों व कसाईघरों आदि की आय, (5) भूमि तथा उसकी उपज से आय, (6) मकानों, विश्राम गृहों आदि का किराया तथा भूमि के लगान से प्राप्त आय।

समीक्षा : आय के अपर्याप्त साधन– भारत में स्थानीय निकायों को अनेक कार्य सौंपे गए हैं तथा उनके कार्यों में लगातार वृद्धि हो रही है, परन्तु इन कार्यों के लिए स्थानीय संस्थाओं के पास पर्याप्त वित्तीय साधन नहीं हैं। उन्हें राज्य सरकारों से सहायता एवं अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है। इसमें विलम्ब एवं भेदभाव होता है। फलस्वरूप वे अपने कार्यों का सम्पादन सरलता से नहीं कर पाते हैं। भारत में स्थानीय निकायों के साधनों की कमी सर्वविदित है, अतः इस समस्या के समाधान हेतु जोर दिया जाना चाहिए।

प्रश्न–7. स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय समस्याएँ बताइए एवं इनके निराकरण हेतु सुझाव दीजिए।

उत्तर– स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय समस्याएँ– स्थानीय संस्थाओं की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं–

(1) आय के अपर्याप्त साधन– स्थानीय निकायों के पास व्यय की मदें बढ़ रही हैं, जबकि उनकी आय के साधन सीमित हैं। परिणामस्वरूप स्थानीय निकाय अपने कार्यों के सम्पादन नहीं कर पाते हैं। स्थानीय सरकारों की आय के साधन अपर्याप्त होने के कारण इन कार्यों को सुचारू रूप से चलाना संभव नहीं हो पाता। वित्त के सम्बन्ध में राज्य सरकारों पर अधिक निर्भर रहने के कारण इन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सहन करना पड़ती हैं।

(2) वित्तीय स्थिति की दयनीय दशा– हमारे देश के स्थानीय निकायों की वित्तीय स्थिति काफी दयनीय है। हमारे देश में संघीय शासन व्यवस्था है। संविधान में संघ व राज्यों के आय के साधनों का विभाजन इस प्रकार से किया गया है कि आय के लगभग सभी महत्वपूर्ण साधन संघ सरकार के पास हैं और राज्यों को संघ सरकार के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। राज्यों की स्थिति ही जब दयनीय है तो स्थानीय निकायों की स्थिति के बारे में कौन क्या कहे। हमारे देश के स्थानीय निकाय हमेशा राज्यों की दया पर निर्भर हैं। यदि इन संस्थाओं को अनुदान न दिए जाएँ तो ये संस्थाएँ अपना कार्य ही नहीं कर पाएँगी।

(3) कर नीति एवं कर की दरों में अन्तर– स्थानीय सरकारों की वित्त की उपेक्षा करने के कारण इनकी कर नीति एवं कर की दरों में अन्तर पाए जाने से अनेक प्रशासनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(4) असहयोग– राज्य सरकार एवं स्थानीय सरकारों के मध्य सहयोग प्राप्त न होने से अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। विकास कार्यों को निश्चितता के आधार पर पूर्ण करना संभव नहीं हो पाता है।

(5) वित्तीय दासता– जैसा कि ऊपर वर्णित है, स्थानीय निकाय पूर्ण रूप से अनुदानों पर आश्रित हैं। इनका वित्तीय क्षेत्र में स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। राज्य सरकारें स्थानीय निकायों से अपनी इच्छानुसार कार्य कराती रहती हैं। कभी-कभी तो ये संस्थाएँ अपना स्वतंत्र निर्णय भी नहीं ले सकती हैं। यह व्यवस्था अंग्रेजों की शासन व्यवस्था से लेकर आज तक चली आ रही है। स्वंतत्रता के बाद भी इसमें सुधार नहीं किया गया है, जबकि हम इन्हें प्रजातंत्र की महत्वपूर्ण कड़ी मानते हैं।

(6) अन्य समस्याएँ– उपर्युक्त सस्याओं के अलावा स्थानीय संस्थाओं की गरीबी के निम्नलिखित अन्य कारण भी हैं, जैसे–

(1) लोगों में करदेय क्षमता का कम होना।
(2) आय के साधनों का वेलोचदार होना।
(3) व्ययों की मदों का लोचदार होना।
(4) कर वसूल करने का ढंग सही न होना तथा करों की बकाया राशि को वसूल करने में उदासीनता बरतना।
(5) अपने अधिकारों को प्रभावी ढंग से लागू न करना।
(6) अनुदानों का ठोस सिद्धान्तों के आधार पर न दिया जाना।
(7) कर निर्धारण का क्षेत्र सीमित होना।

(8) राज्य का अनावश्यक हस्तक्षेप करना।

स्थानीय सस्थाओं की वित्तीय स्थिति सुधारने के उपाय– स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति में सुधार के लिए समय-समय पर कुछ समितियों का गठन किया गया था। इन समितियों ने इस बारे में निम्नलिखित सुझाव दिए हैं–

(1) जिला पंचायतों के कार्य क्षेत्र को छोटा किया जाना चाहिए, ताकि ये व्यवस्थित रूप से अपने कार्यों का संचालन कर सकें। इन्हें ग्राम पंचायतों के साथ समन्वय स्थापित करना चाहिए। जिला पंचायतों की आय के स्रोत सीमित हैं, इसलिए इनको राज्यों से अधिकाधिक अनुदान मिलने चाहिए।
(2) ग्राम पंचायतों के द्वारा राम-राज्य की कल्पना को साकार बनाने हेतु आवश्यक है कि इन्हें कुछ विशेष प्रकार के अधिकार दिए जाने चाहिए, जिससे ग्राम पंचायतों व जिला पंचायतों में समन्वय बना रहे।
(3) स्थानीय संस्थाओं को करारोपण का स्वतंत्र अधिकार होना चाहिए। राज्य सरकारों को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। स्थानीय संस्थाएँ स्वतंत्र रूप से अपने कार्य क्षेत्र में अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप यदि ऐसा करें तो उनकी अनेक समस्याएँ हल हो सकती हैं और वे राज्य की अधीनता से भी मुक्त हो जाएँगी।
(4) कुछ करों को स्थानीय निकायों के लिए सुरक्षित रखने का सुझाव दिया गया था। इनमें से ये मुख्य कर थे– भूमि एवं भवनों का कर, पूंजी कर, चुंगी कर, व्यापार, व्यवसाय व रोजगार पर कर, पशु तथा नावों पर कर, ऐसी गाड़ियों पर कर जिनमें शक्ति का उपयोग न होता हो, समाचार-पत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों के अलावा अन्य प्रकार के विज्ञापनों पर कर, और मनोरंजन कर।
(5) राज्य सरकारों के द्वारा स्थानीय निकायों को लोचदार कर लगाने का अधिकार दिया जाना चाहिए, ताकि ये संस्थाएँ पर्याप्त आय प्राप्त कर सकें।
(6) स्थानीय संस्थाओं को व्यापारिक कार्यों के संचालन के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए तथा स्थानीय संस्थाओं की गैर-कर आय के साधनों में भी वृद्धि की जानी चाहिए।
(7) राज्यों के द्वारा स्थानीय संस्थाओं को ऋण भी दिए जाने चाहिए। ये ऋण मुख्य रूप से जलापूर्ति की योजनाओं, स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं, सड़कों व नालियों के निर्माण तथा गंदी बस्तियों के सुधार आदि के लिए दिए जाने चाहिए।
(8) स्थानीय संस्थाओं को अपने प्रशासन में भी सुधार लाना चाहिए। जब तक प्रशासन की कुशलता नहीं बढ़ाई जाएगी, तब तक किए गए अन्य उपाय सार्थक नहीं हो सकेंगे। इन सभी संस्थाओं का संचालन राष्ट्रीय चेतना के आधार पर किया जाना चाहिए।
(9) नगरपालिकाओं को विवाह के रजिस्ट्रेशन पर करारोपण का अधिकार मिलना चाहिए।

प्रश्न–8. स्थानीय संस्थाओं के प्रकार या वर्गीकरण दीजिए।

अथवा

स्थानीय संस्थाओं के प्रकार या इनके वर्गीकरण को लिखिए।

उत्तर– स्थानीय संस्थाओं का वर्गीकरण– हमारे देश में इस समय संस्थानीय संस्थाओं का जो स्वरूप है, उसे हम निम्नलिखित क्रम में रख सकते हैं–

(1) **ग्राम पंचायतें–** ग्राम पंचायतों का इतिहास अति प्राचीन है। ग्राम पंचायतों का महत्व आज प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में और अधिक बढ़ गया है। एक ग्राम पंचायत के अन्तर्गत एक या एक से अधिक गाँव आते हैं। पर्वतीय क्षेत्र को छोड़कर पंचायतों का गठन जनसंख्या के आधार पर किया जाता है। इस संस्था का मुखिया प्रधान या सभापति होता है तथा प्रत्येक गाँव से या गाँव के मोहल्लों से अन्य सदस्यों का निर्वाचन प्रजातांत्रिक आधार पर किया जाता है। कभी-कभी यह चुनाव निर्विरोध भी हो सकता है। चुने गए सदस्य तथा सभापति सब मिलकर गाँव की समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं तथा गाँव के लिए नीतियों का निर्धारण करते हैं।

1993 में पंचायत राज एवं ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन के सम्बन्ध में 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया गया। इस संशोधन द्वारा संविधान में एक नया भाग, भाग 9 तथा 16 अनुच्छेद व एक ग्यारहवीं अनुसूची जोड़ी गई है और 'पंचायत राज व्यवस्था' को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। यह अधिनियम 25-4-1993 को लागू हो गया।

अधिनियम में प्राथमिक स्तर पर गाँव की व्यवस्था की गई है। यह ग्रामीण क्षेत्र में स्थानीय स्वशासन की प्रत्यक्ष लोकतंत्रीय संस्था है। इस अधिनियम में ग्राम सभा के अलावा त्रिस्तरीय पंचायतराज संस्थाओं की व्यवस्था की गई है। ग्राम के स्तर पर ग्राम पंचायत, विकासखंड स्तर पर खंड समिति या क्षेत्र समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद्।

(2) **नगर पालिकाएँ–** भारत में नगरीय शासन व्यवस्था बहुत प्राचीन है। इस व्यवस्था को अंग्रेजों ने सन् 1687 में मद्रास के लिए किया था। 1793 में मद्रास, कलकत्ता, बम्बई में नगर निगमों की स्थापना की गई थी। बाद में इस व्यवस्था का विस्तार होता गया। नगर निगमों की व्यवस्था में समरूपता नहीं थी। नगर निगमों में समरूपता स्थापित करने तथा संवैधानिक स्तर प्रदान करने हेतु 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1993 पारित किया गया। इस संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में एक नया भाग, भाग-एक, जिसमें कुल 18 अनुच्छेद हैं और एक नई, बारहवीं अनुसूची जोड़कर नगरीय क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं (नगरपालिका आदि) को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। 74वाँ संशोधन अधिनियम, 1-6-1993 से लागू हो गया। संशोधन के अनुसार नगरीय क्षेत्र में निम्न व्यवस्था की गई है– (1) नगर पंचायत, (2) नगरपालिका परिषद तथा (3) नगर निगम।

(3) **नगर निगम–** नगर निगम नगरपालिकाओं से बड़ी संस्था होती है। टाउन एरिया, नगरपालिका व नगर निगम ये तीनों संस्थाएँ नगरों में ही कार्य करती हैं। छोटे-छोटे कस्बों में टाउन एरिया कार्य करती हैं। यदि कस्बा शहर का रूप ले ले तो यहाँ टाउन एरिया की जगह नगरपालिका बन जाएगी और यदि शहर बड़ा नगर बन जाए, जैसे लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस, आगरा आदि तो नगरपालिका की जगह यहाँ नगर निगम स्थापित हो जाएगा। नगर निगमों की कार्यप्रणाली भी नगरपालिकाओं जैसी ही है। इसके सदस्यों व अध्यक्ष का निर्वाचन भी प्रजातांत्रिक प्रणाली से होता है। नगर को अनेक वार्डों में बाँटा जाता

है और प्रत्येक वार्ड से सदस्य चुनकर यहाँ आते हैं, जो नगर के विकास के लिए नीतियों का निर्धारण करते हैं। नगर निगम का कार्य क्षेत्र अन्य संस्थाओं से व्यापक होता है। इसके आय-व्यय के साधन भी अधिक होते हैं। नगर के भीतर हर प्रकार का प्रबंध इसी संस्था को करना होता है। नगर निगमों के द्वारा लगभग उन्हीं कार्यों का सम्पादन नगरपालिकाओं के द्वारा किया जाता है, अन्तर केवल इतना है कि नगरपालिकाओं के आय-व्यय के साधन सीमित होते हैं, जबकि नगर निगमों के आय-व्यय के साधन व्यापक होते हैं।

(4) **जिला परिषद–** 'जिला पंचायत' कुछ दिन पूर्व तक को 'जिला बोर्ड' के नाम से पुकारा जाता था। अब इसे जिला पंचायत कहा जाता है। जिला पंचायत के कार्य क्षेत्र की सीमा एक जिले तक सीमित होती है। यह स्थानीय संस्था शेष संस्थाओं से अधिक व्यापक है। जिला परिषद के ही अन्तर्गत पंचायतें, नगरपालिका तथा नगर निगम आदि कार्य करते हैं। प्राचीन समय में जब नगरपालिकाओं व नगर निगमों का आज के समान विकास नहीं हुआ था, तब जिला पंचायतों का बहुत अधिक महत्व था। प्रायः इन सबके कार्यों का सम्पादन भी जिला पंचायतों को ही करना होता था। आज भले ही जिला पंचायतों का क्षेत्र अन्य संस्थाओं से अधिक व्यापक है, परन्तु उसके कार्यों का भार अन्य स्थानीय संस्थाओं के द्वारा ले लिया गया है, फलस्वरूप अब जिला पंचायतों का कार्य क्षेत्र सीमित हो गया है।

प्रश्न–9. स्थानीय निकाय के वित्त के स्त्रोतों का वर्णन कीजिए।

अथवा

नगरपालिका के वित्तीय स्त्रोतों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– स्थानीय वित्त के निम्नलिखित स्त्रोत हैं–

नगरपालिका– नगर पलिकाओं को यह सुनिश्चित करना होगा कि यदि उन्हें "बजट को सन्तुलित करना है" तो उनके नियोजित व्यय के भुगतान के लिए पर्याप्त धन चाहिए होगा। इनकी आय के विभिन्न स्रोत हैं जिनका उपयोग नगर पालिकाएँ अपने खर्चों को वित्तपोषित करने के लिए कर सकती हैं। यह अनुभाग नगरपालिका आय के विभिन्न स्रोतों की रूपरेखा तैयार करता है, और यह तय करने के तरीकों पर गौर करता है कि आपकी नगरपालिका की जरूरतों के लिए सबसे अच्छा क्या होगा।

पूंजीगत बजट वित्तपोषण के मुख्य स्रोत–

बाहरी ऋण– दक्षिण अफ्रीका में उच्च ब्याज दरों के कारण बाहरी ऋण (किसी बैंक या अन्य वित्तीय संस्थान से) पूंजी बजट के वित्तपोषण का एक महंगा रूप है। बाहरी ऋणों का उपयोग केवल प्रमुख पूंजीगत वस्तुओं जैसे सड़क, भवन, सीवरेज कार्यों और जल प्रणलियों की खरीद के लिए वित्तपोषण के लिए किया जाना चाहिए।

आन्तरिक ऋण– कई नगर पालिकाओं के पास आन्तरिक "बचत निधि" होती है जैसे पूंजी विकास निधि या समेकित ऋण निधि। ये फंड नगर पालिका को पूंजीगत वस्तुओं की खरीद या विकास के लिए आन्तरिक ऋण दे सकते हैं, आमतौर पर बाहरी ऋण की तुलना में कम ब्याज दर पर और नगर पालिका अपने स्वयं के "बचत कोष" में ब्याज का भुगतान कर रही है, जिसे बाद में उपयोग किया जा सकता है किसी अन्य पूंजीगत परियोजना के लिए।

राजस्व से योगदान– एक छोटी पूंजीगत वस्तु खरीदते समय, छोटी कुल लागत का भुगतान खरीद के वर्ष में परिचालन आय से किया जा सकता है। इस वित्तपोषण स्रोत को

"राजस्व से योगदान" के रूप में जाना जाता है। अधिकांश नगर पालिकाओं में, वित्तपोषण के इस स्रोत का उपयोग छोटी पूंजीगत वस्तुओं, जैसे फर्नीचर और उपकरण की एक या दो वस्तुओं के भुगतान के लिए किया जाता है। चूँकि कोई ब्याज देय नहीं है, वित्तपोषण का यह स्रोत बाहरी या आन्तरिक ऋणों की तुलना मे काफी होता है।

सरकारी अनुदान– नगर पालिकाएँ बुनियादी ढाँचे के विकास हेतु अनुदान के लिए राष्ट्रीय सरकार को आवेदन कर सकती है। उपलब्ध दो मुख्य फंड हैं–

- **सीएमआईपी (कंसोलिडेट म्युनिसिपल इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोग्राम)–** प्रांतीय और स्थानीय सरकार विभाग से उपलब्ध है।
- **जल सेवा परियोजनाएँ–** जल मामलों के विभाग से उपलब्ध हैं।

दान और सार्वजनिक योगदान– स्थानीय और विदेशी दानकर्ता कभी–कभी वंचित क्षेत्र में किसी पूंजीगत वस्तु की खरीद के लिए विशेष रूप से उपयोग किए जाने वाले पूंजीगत वस्तु या धन का दान कर सकते हैं। वे अपने दान के लिए प्रचार चाहते होंगे, जिसे नगर पालिका उनके प्रायोजन को स्वीकार करने के लिए व्यवस्थित कर सकती है।

सार्वजनिक/निजी भागीदारी– पूंजीगत लागत का भुगतान निजी क्षेत्र और नगर पालिका के बीच साझेदारी के माध्यम से किया जा सकता है। अधिकांश मामलों में निजी क्षेत्र के भागीदार का वित्तपोषित की जाने वाली सेवाओं और पूंजी में लाभ का उद्देश्य होगा, इसलिए समुदाय के हितों की रक्षा के लिए नियमों और शर्तों को सावधानीपूर्वक परिभाषित किया जाना चाहिए।

परिचालन बजट वित्तपोषण के मुख्य स्रोत–

(1) **सम्पत्ति दरें–** नगरपालिका क्षेत्र में अचल सम्पत्ति (भूमि, मकान, कारखाने और कार्यालय ब्लॉक) के मालिक सभी लोगों और व्यवसायों से "सम्पत्ति दरें" ली जाती हैं– प्रत्येक सम्पत्ति के मूल्य के आधार पर एक वार्षिक कर दरों से होने वाली आय का उपयोग नगर पालिका द्वारा सभी लोगों को सामान्य सेवाओं के भुगतान के लिए किया जाता है, जिसे किसी विशिष्ट सेवा उपयोगकर्ता से "सेवा शुल्क" के रूप में आसानी से नहीं लिया जा सकता है, उदाहरण के लिए सड़कें, फुटपाथ, पार्क, स्ट्रीट लाइट, तूफान जल प्रबंधन, आदि।

(2) **सेवा शुल्क/टैरिफ–** विशिष्ट सेवाओं के लिए जिनका शुल्क सीधे किसी घर या कारखाने से लिया जा सकता है, "उपयोगकर्ता भुगतान" के सिद्धान्त को अपनाया जाना चाहिए। अर्थात् पानी, बिजली या भवन योजनाओं के अनुमोदन जैसी सेवाओं के लिए कीमत या "टैरिफ" वसूलना, जहाँ उस व्यक्ति या व्यवसाय द्वारा सेवा के सटीक उपयोग को मापा जा सकता है जिसने वास्तव में उस सेवा का उपयोग किया था।

(3) **जुर्माना–** यातायात जुर्माना, देर से पुस्तकालय की पुस्तक वापस करने पर जुर्माना, सेवा शुल्क के अतिदेय भुगतान के लिए जुर्माना, ये जुर्माना आय या "राजस्व" का एक अन्य स्रोत हैं, साथ ही ये सेवाओं के उपयोगकर्ताओं को लोकतांत्रिक कानूनों, नियमों का पालन करने की संस्कृति के लिए प्रेरित करते हैं।

(4) **समतामूलक हिस्सा–** समतामूलक हिस्सा वह धनराशि है जो नगर पालिका को प्रत्येक वर्ष राष्ट्रीय सरकार से मिलती है। संविधान कहता है कि राष्ट्रीय स्तर पर एकत्र किए

गए सभी राजस्व को सरकार के राष्ट्रीय, प्रांतीय और स्थानीय क्षेत्रों के बीच समान रूप से (निष्पक्ष रूप से) विभाजित किया जाना चाहिए। स्थानीय सरकार की न्यायसंगत हिस्सेदारी का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि नगर पालिकाएँ बुनियादी सेवाएँ प्रदान कर सकें और अपने क्षेत्रों का विकास कर सकें। नगर पालिका को मिलने वाली राशि मुख्य रूप से क्षेत्र में कम आय वाले लोगो की संख्या पर निर्भर करती है– ग्रामीण नगर पालिकाओं को आमतौर पर अधिक मिलता है। अधिकांश नगर पालिकाओं को उनके परिचालन बजट का केवल एक छोटा–सा हिस्सा ही समान हिस्से से मिलता है।

(5) **नगरपालिका सेवाओं के लिए शुल्क–** "टैरिफ" का अर्थ एक सेवा शुल्क है जो नगर पालिका सेवाओं के उपयोग के लिए वसूलती है। इन सेवाओं की कीमतें उन लोगों के लिए जो सेवाओं का उपयोग करते हैं, और स्वयं नगर पालिका के लिए सस्ती होनी चाहिए। वार्ड समितियों को क्षेत्र में आवश्यक सेवाओं पर पार्षदों को सलाह देनी चाहिए, सेवाओं के लिए एक किफायती मूल्य क्या है, और यह कैसे सुनिश्चित किया जाए कि लोग उनकी सेवाओं के लिए भुगतान करें। कुशल और लागत प्रभाव सेवा वितरण पर चर्चा करने के लिए सामुदायिक संगठनों को परामर्श बैठकों में शामिल होना चाहिए।

प्रति वर्ष, बजट तैयारी चक्र के हिस्से के रूप में, निम्नलिखित के लिए टैरिफ की समीक्षा होनी चाहिए–

(i) बुनियादी सेवाएँ, जैसे पानी, बिजली, सीवरेज या कचरा हटाना।
(ii) विशिष्ट सेवाएँ, जैसे भवन योजनाओं का अनुमोदन।
(iii) जुर्माना और दंड, जैसे यातायात जुर्माना या देर से भुगतान, बकाया पर ब्याज।

ये निर्णय निम्नलिखित को ध्यान में रखकर लिया जाना चाहिए–

(i) इन सेवाओं का उपयोग करने वाले लोगों के लिए शुल्क उचित और किफायती होना चाहिए।
(ii) एक स्लाइडिंग पैमाने के आधार पर, ताकि हर किसी को मूल राशि मुफ्त मिल सके, फिर वे जितना पानी या बिजली का उपयोग करते हैं, उसके लिए अधिक से अधिक टैरिफ राशि का भुगतान करें। ये उच्च मात्रा वाले टैरिफ उन लोगों को मुफ्त बुनियादी आपूर्ति को कवर करने के लिए आवश्यक हैं, जो जीवित रहने के लिए केवल थोड़ा–सा उपयोग करते हैं।
(iii) उन गरीब परिवारों से निपटने के लिए नीति जो कुछ भी भुगतान करने में सक्षम नहीं हैं।
(iv) लोगों को सेवा प्रदान करने की लागत का अधिकांश (या सभी) वसूल करना नगर पालिका के लिए उचित है, ताकि टैरिफ आय से कर्मचारियों के वेतन, पानी के पाइप की मरम्मत का भुगतान किया जा सके, और बिजली की उनकी थोक आपूर्ति के लिए एस्कॉम को चुकाया जा सके।

(6) **सम्पत्ति की दरें–** लोकतांत्रिक देशों में, सम्पत्ति की दरें नगर पालिका के लिए आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं, सामान्य सेवाओं और सुविधाओं के भुगतान के लिए जो नगर पालिका क्षेत्र के लोगों को प्रदान करती है।

(i) "दरें" वे सम्पत्ति कर हैं जो नगरपालिका उन सभी लोगों और व्यवसायों से वसूल सकती है जिनके पास नगरपालिका क्षेत्र में अचल सम्पत्ति (भूमि और भवन) हैं, जो उस सम्पत्ति के अनुमानित मूल्य के आधार पर है।

(ii) "रैंड में दर" प्रत्येक वर्ष परिषद द्वारा सम्पत्ति मूल्य के "प्रतिशत" के रूप में निर्धारित की जाती है, जिसे सम्पत्ति मालिक को नगर पालिका को भुगतान करना होगा। नगर पालिका आमतौर पर, इस कर का भुगतान वार्षिक किस्त में किया जाता है।

(iii) नगरपालिका के लिए "वैल्यूएशन रोल" नगरपालिका क्षेत्र में सभी अचल सम्पत्तियों को सूचीबद्ध करता है, उनका मालिक कौन है और – भूमि और भवन का आधिकारिक मूल्य क्या है?

यह महत्वपूर्ण है कि इन मूल्यों को नियमित रूप से अद्यतन किया जाए, जैसे-जैसे आपका क्षेत्र विकसित होता है, लोग अपनी सम्पत्तियों में सुधार करते हैं, और भूमि की कीमत में बदलाव होता है। दरें प्रत्येक सम्पत्ति के उचित, अद्यतन मूल्य पर आधारित होने चाहिए, अन्यथा लोग नगर पालिका पर उन पर अनुचित सम्पत्ति कर वसूलने का आरोप लगा सकते हैं।

धन प्रवाह का प्रबंधन करना– "धन प्रवाह" या "नकद प्रवाह" नगर पालिका के बैंक खाते में धन की आवाजाही है, क्योंकि धन सम्पत्ति दर दाताओं से प्राप्त किया जाता है और कर्मचारियों और सेवा प्रदाताओं को भुगतान किया जाता है। जब बैंक खाते में भुगतान की जाने वाली राशि से अधिक धन प्रवाहित होता है, तो नगर पालिका के पास धन का "अधिशेष" होता है– और वह योजनाबद्ध विकास परियोजनाओं के साथ आगे बढ़ सकती है जिनकी योजना बजट में बनाई गई है।

जब आने वाले धन से अधिक धन का भुगतान करना पड़ता है, तो नगर पालिका बड़ी वित्तीय समस्याओं की ओर बढ़ सकती है या "दिवालिया" हो सकती है। नगर पालिका बैंक से (ओवरड्राफ्ट) या सरकार के किसी अन्य क्षेत्र से (ऋण या अनुदान) धन उधार ले सकती है, या सम्पत्ति दरों और सेवा शुल्क (टैरिफ) में वृद्धि कर सकती है। अतः स्थिति से बचने के लिए लोगों को स्थानीय सेवाओं के लिए भुगतान करना होगा।

इनमें से कोई भी विकल्प नगर पालिका की प्रतिष्ठा के लिए बहुत अच्छा नहीं है। भले ही वार्ड समितियों और सामुदायिक संगठन नगर पालिका के "नकदी प्रवाह प्रबंधन" में शामिल नहीं हैं। "नकारात्मक नकदी प्रवाह" या "घाटे" से बचना अति महत्वपूर्ण है। ऐसा तब होता है जब नगर पालिका पर बैंक का अधिक पैसा बकाया होता है, और उसे उन परियोजनाओं को रोकना पड़ता है जिनके लिए वह भुगतान नहीं कर सकती। "नकदी प्रवाह प्रबंधन" परिषद की बैठक के एजेंडे में एक नियमित आइटम होना चाहिए और इसके बारे में दस्तावेज परिषद या वार्ड समिति की बैठकों में प्रस्तुत किए जाने चाहिए। कोषाध्यक्ष और कार्यकारी समिति या महापौर समिति द्वारा धन प्रवाह की कितनी अच्छी तरह योजना बनाई जा रही है, निगरानी की जा रही है और उसका पालन किया जा रहा है।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) संघीय वित्त व्यवस्था का क्या अर्थ है?

उत्तर– संघीय वित्त–व्यवस्था का आशय केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों एवं स्थानीय निकायों के बीच आय एवं व्यय के साधनों के विभाजन से है। संघीय वित्त–व्यवस्था के अन्तर्गत उपर्युक्त तीनों प्रकार की सरकारों को अपनी सीमा में आय प्राप्त करने तथा उसके व्यय करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है।

इकाई 6

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. मौद्रिक नीति की व्याख्या कीजिए एवं उसके उद्देश्यों को लिखिए। नवीन मौद्रिक नीति की समीक्षा कीजिए।

उत्तर– **मौद्रिक नीति से आशय–** सामान्यतः मौद्रिक नीति से तात्पर्य उन समस्त उपायों से होता है जो जनता के व्यय को प्रभावित करने के उद्देश्य से अपनाए जाते हैं तथा ब्याज की दर, मुद्रा की पूर्ति तथा साख-नियंत्रण से सम्बन्धित होते हैं। जब अर्थव्यवस्था में किन्हीं आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के उद्देश्यों से, जैसे– पूर्ण रोजगार की प्राप्ति, मूल्य स्तर में स्थापित आदि को प्राप्त करने के लिए जिस नीति का निर्माण किया जाता है, उसे मौद्रिक नीति कहते हैं। मौद्रिक नीति की परिभाषा निम्नलिखित हैं–

(1) **प्रो. जॉनसन के अनुसार–** "मौद्रिक नीति का तात्पर्य केन्द्रीय बैंक की उस नीति से है, जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक सामान्य आर्थिक नीति के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मुद्रा की पूर्ति को नियंत्रित करता है।"

(2) **प्रो. पाल एंजिंग के अनुसार–** "मौद्रिक नीति के अन्तर्गत वे सब मौद्रिक निर्णय तथा उपाय होते हैं, जिनका उद्देश्य मौद्रिक प्रणाली को प्रभावित करना होता है।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मौद्रिक नीति के द्वारा सम्पूर्ण रूप से ऐसी आर्थिक व्यवस्था की जाती है, जिससे कि विकास होकर पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त किया जा सके।

मौद्रिक नीति के उद्देश्य– किसी भी मौद्रिक नीति के निम्नलिखित उद्देश्य हो सकते हैं–

(1) **आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना–** बीसवीं सदी में सामान्यतया लगभग सभी देशों द्वारा आर्थिक नियोजन को अपनाया जा चुका है। इतना ही नहीं अधिकांश देशों के द्वारा अपने यहाँ की मौद्रिक नीति का निर्माण इस लक्ष्य को तय करके किया जाता है कि इससे आर्थिक विकास को बल मिले। आर्थिक नियोजन अपनाने वाले देशों के द्वारा सुनियोजित मौद्रिक नीति को अपनाया जाता है, ताकि देश का आर्थिक विकास हो सके। नियोजन के अन्तर्गत देश में उपलब्ध मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों का बेहतर उपयोग करने के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ती है और पूंजी के संकलन हेतु उचित मौद्रिक नीति आवश्यक है। देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा लागू मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य बैंक दर को नीचा रखना, कम निधि अनुपात रखना, खुले बाजार में सरकारी ऋणपत्रों को खरीदना तथा बैंकों को उधार देने के लिए प्रोत्साहित करना होना चाहिए, तब ही आर्थिक विकास द्रुत गति से हो सकता है।

(2) मूल्य स्तर में स्थायित्व बनाए रखना– मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन के फलस्वरूप मूल्य स्तर में परिवर्तन होते हैं, जिनका समाज के विभिन्न वर्गों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मुद्रा प्रसारीय परिस्थितियों में सबसे अधिक सामाजिक हानि इसलिए होती है, क्योंकि वस्तुओं के मूल्य अत्यधिक मात्रा में बढ़कर उपभोग को प्रभावित करने लगते हैं। मुद्रा के मूल्य को स्थायी बनाना बहुत ही आवश्यक होता है, क्योंकि मुद्रा के मूल्य को स्थायी बनाकर ही सामान्य तुल्य स्तर को स्थायी बनाया जा सकता है। मूल्य स्तर में वृद्धि उपभोक्ता तथा विनियोजकों दोनों के लिए हानिकारक होती है। इसके विपरीत मूल्य स्तर में कमी होने से देश बेरोजगारी फैलती है।

मौद्रिक नीति के उद्देश्य को कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे किस मूल्य स्तर को स्थायी बनाया जाये, क्योंकि खुदरा मूल्य स्तर तथा थोक मूल्य को बेकारी का कारण नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि यह तो केवल उसका परिणाम है। इस कारण मूल्य स्तर को स्थायित्व प्रदान करना थोड़ा कठिन उद्देश्य है।

(3) विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व लाना– मौद्रिक नीति का एक उद्देश्य विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व लाना भी होता है। विनिमय दर में अत्यधिक परिवर्तन देश की आर्थिक व्यवस्था के लिए हानिकारक होते हैं। विनिमय दर में हमेशा परिवर्तन होते रहने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनिश्चितता आ जाती है, जिससे हानि होती है। इसके अलावा विनिमय दर के परिवर्तन से आयात एवं निर्यात में स्तर की कीमतों में भी परिवर्तन होता है, जिसका प्रभाव आन्तरिक मूल्य स्तर तथा उत्पादन पर होता है। इस दिशा में मौद्रिक नीति के द्वारा एक सन्तुलित विनिमय दर का निर्धारण किया जाता है।

(4) पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना– वर्तमान युग में समस्त अर्थव्यवस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य पूर्ण रोजगार प्राप्त करना ही हो गया है। मौद्रिक नीति का लक्ष्य वास्तविकता में पूर्ण रोजगार प्राप्त करना ही होना चाहिए, ताकि यह लक्ष्य-मूल्य तथा विनिमय दर स्थिरता के लक्ष्यों को भी प्राप्त कर सके। पूर्ण रोजगार से आशय है कि उन्हें काम करने का अवसर प्राप्त हो जो काम करने की इच्छा रखते हों। मौद्रिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर बचत एवं विनियोग का सन्तुलन प्राप्त करना होना चाहिए। मौद्रिक नीति पूर्ण रोजगार प्राप्त करने वाले उपकरणों में से एक उपकरण है।

(5) मुद्रा की तटस्थता– तटस्थ मुद्रा नीति इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि मुद्रा के परिमाण में होने वाले परिवर्तन ही आर्थिक जीवन में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न कर देते हैं। इसलिए यदि मुद्रा को स्थिर रखा जावे तो आर्थिक जीवन में होने वाली अस्त-व्यस्तता को समाप्त किया जा सकता है। तटस्थ मुद्रा नीति का स्वतंत्र व्यापार नीति से गहरा सम्बन्ध है।

भारत की वर्तमान मौद्रिक एवं साख नीति

भारतीय रिजर्व बैंक की मुद्रा नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(1) सामान्य मूल्य-स्तर में स्थिरता रखी जाए एवं सामान्य उतार-चढ़ाव पर सूक्ष्म निगरानी रखी जाए।

(2) सभी आवश्यक आर्थिक गतिविधियों हेतु पर्याप्त ऋण उपलब्ध हो।

(3) ब्याज दरों में कमी लाई जाए।

(4) निवेश माँग को पुनर्जीवित करने के लिए पर्याप्त चल निधि उपलब्ध कराना।

प्रश्न–2. मौद्रिक नीति से क्या आशय है? उदारीकरण के पूर्व एवं पश्चात् भारत की मौद्रिक नीति की विशेषताएँ बताइए तथा वर्तमान मौद्रिक नीति की समीक्षा कीजिए।

उत्तर– मौद्रिक नीति से आशय– सामान्यतः मौद्रिक नीति से तात्पर्य उन समस्त उपायों से होता है, जो जनता के व्यय को प्रभावित करने के उद्देश्य से अपनाए जाते हैं तथा ब्याज की दर, मुद्रा की पूर्ति तथा साख नियंत्रण से सम्बन्धित होते हैं। जब अर्थव्यवस्था में किन्हीं आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के जिस नीति का निर्माण किया जाता है, उसे मौद्रिक नीति कहते हैं।

उदारीकरण के पूर्व एवं पश्चात् भारत की मौद्रिक नीति
अथवा
भातीय रिजर्व बैंक द्वारा अपनी गई मौद्रिक नीति

स्वतंत्रता के पश्चात् आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए रिजर्व बैंक को मुद्रा पूर्ति तथा बैंक ऋण में वृद्धि को इस प्रकार नियमित करना था, जिससे निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों की उत्पादन की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके, किन्तु इसके साथ ही रिजर्व बैंक को इस बात को भी ध्यान में रखना था कि निजी क्षेत्र को अत्यधिक मात्रा में बैंक ऋण की प्राप्ति न हो सके, ताकि मुद्रा स्फीति सम्बन्धी दबाव उत्पन्न न हो सकें। यही कारण है कि 1951 से 1991 तक की अवधि में अपनाई गई मौद्रिक नीति को नियंत्रित विस्तार की संज्ञा दी गई है। इसके बाद भारत सरकार की आर्थिक नीति उदारीकरण की ओर अग्रसर हुई तथा निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक ने मौद्रिक नीति को भी अत्यधिक उदार बनाया।

1951-1991 एवं उदारीकरण के पश्चात् वर्तमान की अवधि में रिजर्व बैंक ने मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में जो कदम उठाए, वे संक्षेप में निम्न प्रकार थे–

(1) बैंक या रेपो रेट में परिवर्तन– व्यवहार में भारतीय रिजर्व बैंक जिस पर वाणिज्य बैंकों को ऋणों या अग्रिमों की सुविधाएँ प्रदान करता है, उसे बैंक दर कहते हैं। भारतीय रिजर्व बैंक साख के विस्तार एवं संकुचन के लिए बैंक दर नीति का उपयोग समय-समय पर करता रहा है। साख के विस्तार के लिए बैंक दर में कमी की जाती है तथा साख संकुचन के लिए बैंक दर को बढ़ाया जाता है।

मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए नवम्बर 1951 में बैंक दर को 3 प्रतिशत से बढ़ाकर 3.5 प्रतिशत कर दिया था और पुनः इसे मई 1959 में बढ़ाकर 4 प्रतिशत कर दिया गया था।

जुलाई, 1981 तक यह बढ़कर 10 प्रतिशत हो गई। इसके बाद 10 वर्षों (1981-91) तक बैंक दर अपरिवर्तित ही रही। उदारीकरण की नीति के कारण 1991 से बैंक दर में निरन्तर कमी की गई।

2001-02 में बैंक दर को घटाकर 6.5% कर दिया गया, जो मई 1973 के पश्चात् इसकी न्यूनतम दर थी। 20 अक्टूबर, 2022 को घोषित नई मौद्रिक नीति में बैंक दर को पुनः घटाकर 6.25% कर दिया गया। अक्टूबर 2023 में बैंक दर को पुनः बढ़ाकर 6.5% कर दिया गया।

(2) **खुले बाजार की क्रियाएँ**– देश में साख नियंत्रण करने के लिए रिजर्व बैंक खुले बाजार की क्रियाओं को भी कर सकता है। खुले बाजार की क्रियाओं से अभिप्राय साख की मात्रा को नियंत्रित करने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों, प्रथम श्रेणी के बिलों एवं प्रतिज्ञा पत्रों के क्रय-विक्रय से होता है।

सन् 1987 के पश्चात् सरकारी प्रतिभूतियों पर ब्याज की दरें बढ़ाकर बाजार में प्रचलित ब्याज की दरों के समान कर दी गईं। परिणामस्वरूप सरकारी प्रतिभूतियों पर ऊँची ब्याज की दरों की स्थिति में रिजर्व बैंक खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा बैंक साख को नियंत्रित कर सकने के योग्य हो गया।

(3) **परिवर्तनशील नकद अनुपात**– प्रत्येक वाणिज्यिक बैंक को अपनी जमा राशियों का एक निश्चित प्रतिशत (3 से 15) रिजर्व बैंक के पास आरक्षित रखना पड़ता है, इसे परिवर्तनशील नकद कोष अनुपात कहते हैं। रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह नकद कोष अनुपात को न्यूनतम 3 प्रतिशत और अधिकतम 15 प्रतिशत के बीच निर्धारित कर सकता है।

रिजर्व बैंक ने अनेक बार इस अधिकार का प्रयोग किया है। जून 1973 में इस अनुपात को 3 से बढ़ाकर 5 प्रतिशत, अगस्त 1983 में 8.5 प्रतिशत, अक्टूबर 1987 में 10 प्रतिशत कर दिया गया, ताकि वाणिज्य बैंक के पास नकदी की मात्रा कम करके ऋण की मात्रा को प्रभावित किया जा सके।

उदारीकरण के बाद नकद आरक्षण अनुपात को 7.5 प्रतिशत से घटाकर 5.5 प्रतिशत किया गया। 1 जून, 2002 को नकद आरक्षण अनुपात में पुनः आधा प्रतिशत की कमी की गई और इसे 5% कर दिया गया। इसके बाद 1 नवम्बर, 2002 से इसे घटाकर 4.75% कर दिया गया और जून 2003 में घटाकर 4.5% कर दिया गया। वर्तमान अक्टूबर 2023 में यही अनुपात लागू है।

(4) **वैधानिक तरलता अनुपात**– अनुसूचित बैंकों के लिए यह अनिवार्य है कि वे अपनी कुल जमाओं का कम से कम 25 प्रतिशत नकदी, स्वर्ण या सरकारी प्रतिभूतियों आदि के रूप में अपने पास तरल रूप में रखें। इसी को वैधानिक तरलता अनुपात कहते हैं। इस वैधानिक तरलता अनुपात में भारतीय रिजर्व बैंक आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन भी कर सकता है।

रिजर्व बैंक ने इस अधिकार के अधीन तरलता अनुपात को 25 प्रतिशत से बढ़ाकर नवम्बर, 1972 में 32 प्रतिशत कर दिया और फिर 1981 में 35 प्रतिशत और जनवरी 1990 में 38.5 प्रतिशत कर दिया। तरलता अनुपात बढ़ाने के उद्देश्य थे–

(1) वाणिज्य बैंकों की व्यापार एवं उद्योग को ऋण तथा अग्रिम देने की क्षमता को कम करना और (2) बैंक राशियों को ऋण तथा अग्रिमों से हटाकर सरकारी तथा अनुमोदित प्रतिभूतियों में विनियोग में लगाना। 1991 में उदारीकरण की नीति के बाद वैधानिक तरलता अनुपात में क्रमशः कमी की गई। वर्तमान वैधानिक तरलता अनुपात दर 25% है, ताकि बैंक उद्योग एवं अन्य क्षेत्रों को अधिक से अधिक ऋण दे सके।

(5) **उधार दरों व जमा दरों में कमी**– 1991 के बाद जब मुद्रा स्फीति की दर अधिक थी, भारतीय रिजर्व बैंक ने वाणिज्य बैंकों की उधार दरों को ऊपर की ओर संशोधित किया। ज्यों ही मुद्रा स्फीति की दरें कम हुईं और समष्टि अर्थव्यवस्था में सुधार हुआ, उधार दरें धीरे-धीरे 20 प्रतिशत से कम करके 1 मार्च, 1994 से 14 प्रतिशत कर दी गई। वर्तमान में यह 8% के लगभग है।

इसके बाद उधार दरें पुनः घटकर 11 से 13 प्रतिशत हो गई है, जिसके फलस्वरूप अब बैंक साख पहले से सस्ती हो गई है, जिससे निजी निवेश को प्रोत्साहन मिला है। इसके साथ ही बैंकों में स्थायी जमा राशियों पर ब्याज की अधिकतम दर 13 से घटाकर 6% प्रतिशत तक कर दी गई है।

इस प्रकार उदारीकरण के पूर्व एवं इसके पश्चात् भारत की मौद्रिक नीति में व्यापक परिवर्तन एवं उतार-चढ़ाव आए हैं। रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिवर्ष अपनी नई मौद्रिक नीति घोषित की जाती है। वर्तमान मौद्रिक नीति का उद्देश्य बैंकों की ऋण देने की क्षमता को बढ़ाना है, ताकि उद्योग एवं वाणिज्य क्षेत्र को कम ब्याज दरों पर पर्याप्त ऋण प्राप्त हो सके।

प्रश्न–3. मौद्रिक नीति का अर्थ एवं उद्देश्य बताइए।

उत्तर– मौद्रिक नीति– आधुनिक युग में मुद्रा तथा साख का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है, किन्तु मुद्रा तथा साख की मात्रा को स्वतंत्र रूप से घटने या बढ़ने नहीं दिया जा सकता है। देश की आवश्यकता के अनुसार इसका नियमन करना आवश्यक है। अतः देश में मुद्रा तथा साख की पूर्ति को एक निर्धारित स्तर पर बनाए रखने के लिए जो नीति अपनाई जा सकती है, उसे मौद्रिक नीति कहा जाता है।

इस प्रकार मौद्रिक नीति का वास्तविक कार्यक्षेत्र मुक्त अथवा स्वतंत्र अर्थव्यवस्था होती है, जहाँ की मुद्रा तथा साख की मात्रा के परिवर्तनों द्वारा मूल्यों को प्रभावित किया जा सकता है।

मौद्रिक नीति के उद्देश्य– मौद्रिक नीति के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

(1) रोजगार की स्थायी एवं उच्चस्तरीय स्थिति को बनाए रखना।
(2) आन्तरिक मूल्य स्तर में स्थिरता बनाए रखना।
(3) विनिमय दरों में स्थायित्व लाना।
(4) भुगतान संतुलन की संतोषजनक स्थिति बनाए रखना।
(5) व्यापारिक क्रियाओं को गति प्रदान करना।
(6) आर्थिक विकास को गति प्रदान करना।
(7) निष्पक्ष मुद्रा नीति का निर्माण करना।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मौद्रिक नीति के उद्देश्य मूल रूप में सभी देशों के लिए उपयोगी हैं, केवल प्राथमिकता का अन्तर हो सकता है।

प्रश्न–4. राजकोषीय नीति (प्रशुल्क नीति) से क्या आशय है? प्रशुल्क नीति के उद्देश्य बताइए।

उत्तर– राजकोषीय (प्रशुल्क) नीति से आशय– राजकोषीय (प्रशुल्क) नीति से आशय सरकार की सार्वजनिक आय, व्यय एवं ऋणों के सम्बन्ध में अपनाई जाने वाली नीति एवं व्यवस्था से है।

प्रो. ऑर्थर स्मिथीज के अनुसार– "राजकोषीय नीति वह नीति है, जिसमें सरकार अपने व्यय तथा आगम के कार्यक्रम को राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा वांछित प्रभाव डालने और प्रभावों को रोकने के लिए प्रयुक्त करती है।"

राजकोषीय नीति के में प्रमुख रूप से चार बातों को शामिल किया जाता है–

(1) सरकार की करारोपण नीति, (2) सरकार की व्यय नीति, (3) सरकार की ऋण नीति, (4) घाटे की वित्त व्यवस्था नीति।

भारत में राजकोषीय नीति के उद्देश्य– विकासशील देशों में राजकोषीय नीति की सहायता से अर्थव्यवस्था में सुधार लाया जा सकता है। इसके निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं–

विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय दोनों का ही स्तर काफी कम होता है। प्रायः जिन राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय कम होती है, वहाँ आर्थिक विकास नहीं हो पाता है। इसलिए राष्ट्रीय आय में वृद्धि के उद्देश्य से राजकोषीय नीति का संचालन किया जाना चाहिए।

(1) प्रभावशाली कर प्रणाली– प्रभावशाली कर प्रणाली द्वारा आय प्राप्त करके उस आय को सामाजिक कल्याण के कार्यों में व्यय किया जाना चाहिए, इससे लोगों की कार्यक्षमता बढ़ेगी। परिणामतः व्यक्तिगत व राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी।

प्रभावोत्पाद माँग में वृद्धि– सार्वजनिक ऋण एवं व्ययों को ऐसी दिशा दी जानी चाहिए, जिससे प्रभावोत्पादक माँग में वृद्धि हो सके। इस संदर्भ में **स्पैंगलर** का मत है कि "सरकार बहुत–सा कार्य स्वयं करके साहसियों की कमी को पूरा कर सकती है, जो कि इस वर्ग के द्वारा किए जा सकते हैं।" अतः विकासशील देशों में सरकार को स्वयं साहसी की भूमिका निभानी चाहिए।

उचित आर्थिक नीति का क्रियान्वयन– उचित आर्थिक नीतियों का संचालन करके विनियोगकर्ताओं को नए–नए विनियोगों की ओर आकर्षित किया जाना चाहिए। आयात व निर्यात नीति को लोचपूर्ण बनाकर नए साहसियों को उत्पादन बढ़ाने हेतु आकर्षित किया जा सकता है।

(2) काम करने की इच्छा तथा योग्यता में वृद्धि– राजकोषीय नीति का उद्देश्य इस प्रकार से निर्धारित किया जाए कि लोगों की बचत करने एवं काम करने की योग्यता तथा इच्छा पर बुरा प्रभाव न पड़ने पाए।

(3) पूँजी निर्माण– किसी भी देश के आर्थिक विकास में पूँजी निर्माण का महत्वपूर्ण स्थान होता है, परन्तु विकासशील देशों में इसकी कमी होती है। अतः राजकोषीय नीति को प्रभावी बनाकर पूँजी निर्माण में वृद्धि की जा सकती है। विकासशील देशों में उपभोग का स्तर ऊँचा होने से बचतें घटती हैं, परिणामस्वरूप पूँजी का निर्माण नहीं हो पाता है। ऐसी दशा में अनिवार्य बचतों एवं विनियोगों को बढ़ाकर पूँजी का निर्माण किया जा सकता है। दूसरी ओर सरकार व्यय करों में वृद्धि करके उपभोग में कमी कर सकती है। करारोपण के अतिरिक्त हीनार्थ प्रबंध, राज्य ऋण, विदेशी बचत, बीमा कम्पनियों, सरकारी उद्योगों का लाभ आदि का भी विशेष महत्व है। इन सब साधनों का सही उपयोग करके पूँजी का निर्माण किया जा सकता है।

(4) न्यायोचित वितरण व्यवस्था लागू करना– विकासशील अर्थव्यवस्था वाले देशों में वितरण की असमानता होती है। इस असमान वितरण का राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। वर्तमान समय में राजकोषीय नीति के द्वारा आय की असमानता को दूर करने के प्रयास किए जाते हैं। सरकार द्वारा सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि करके रोजगार के अवसर उपलब्ध कराए जाते हैं। धनी वर्ग पर प्रगतिशील दर से करारोपण करके उनकी फिजूलखर्ची को रोका जा सकता है। इस प्रकार जो आय प्राप्त की जाती है, उसे निर्धन वर्ग की शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, आवास सम्बन्धी योजनाओं पर व्यय किया जाता है। इस व्यय से निर्धन समाज का आर्थिक स्तर ऊँचा उठता है, वह भविष्य में धनी समाज की बराबरी करने लग जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आय की असमानता को राजकोषीय नीति, उत्पादन सम्बन्धी क्रियाओं और सार्वजनिक व्यय द्वारा दूर किया जा सकता है।

(5) मूल्य स्थिरता और मुद्रा स्फीति का नियंत्रण– राजकोषीय नीति के मुख्य उद्देश्यों में से एक उद्देश्य मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करना और कीमतों को स्थिर रखना है। इसलिए सरकार का सदा यह लक्ष्य रहता है कि राजकोषीय घाटे को कम कर मुद्रा स्फीति को नियंत्रित किया जाए और नई बचत योजनाओं की शुरूआत कर वित्तीय संसाधनों को जुटाया जाए।

(6) रोजगार प्रदान करना– राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य वर्तमान समय में विकासशील देशों में बेरोजगारी को दूर करना है। जब तक इन राष्ट्रों में रोजगार नहीं बढ़ाया जाता, तब तक इनकी स्थिति नहीं सुधर सकती है। इसलिए सरकार को ऐसी नीति–निर्धारित करनी चाहिए, जिससे निजी व सार्वजनिक निवेशों में वृद्धि की जा सके। निवेशों में वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार लोगों की उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि करे और उससे प्रभावोत्पादक माँग बढ़े, ताकि लोगों की माँग का प्रभाव वस्तुओं की बिक्री पर पड़ सके। यदि यह क्रिया जारी रहे तो रोजगार व उत्पाद में वृद्धि होगी।

(7) सन्तुलित क्षेत्रीय विकास– सरकार द्वारा देश में क्षेत्रीय असन्तुलन को कम करने हेतु अनेक प्रकार की योजनायें चलायी जा रही हैं। जैसे– नदियों में बाँधों का निर्माण, बिजली, स्कूलों, सड़कों, औद्योगिक परियोजनाओं आदि का निर्माण। इन सभी को सार्वजनिक व्यय की सहायता से किया जा रहा है।

(8) संसाधनों के सही उपयोग द्वारा विकास करना– राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य तीव्र आर्थिक विकास को प्राप्त करना और उसे बनाए रखना है। आर्थिक वृद्धि के इस उद्देश्य को वित्तीय संसाधनों का सदुपयोग करके प्राप्त किया जा सकता है। भारत में केन्द्र और राज्य सरकारें संसाधन जुटाने हेतु राजकोषीय नीति का उपयोग करती हैं।

(9) बुनियादी ढाँचे का विकास– जब सरकार लोगों के कल्याण हेतु रेल, स्कूलों, बाँधों, बिजली, सड़क जैसी परियोजनाओं पर पैसा व्यय करती है तो देश के बुनियादी ढाँचे में सुधार होता है। एक बेहतर बुनियादी ढाँचा देश के आर्थिक विकास में तीव्रता लाने की चाभी है।

(10) भुगतान सन्तुलन में घाटे को कम करना– कभी–कभी सरकार देश से निर्यात को बढ़ावा देने हेतु निर्यातकों को निर्यात प्रोत्साहन प्रदान करती है। उसी प्रकार आयात को रोकने के उपायों को भी अपनाया जाता है। इस प्रकार इन संयुक्त उपायों के माध्यम से देश के भुगतान सन्तुलन में सुधार होता है।

(11) विदेशी मुद्रा आय– जब देश की केन्द्र सरकार घरेलू बाजार में चीजों के उत्पादन के अलावा कस्टम ड्यूटी में छूट, उत्पाद शुल्क में रियायत देती है तो इससे विदेशी निवेशक आकर्षित होते है, जिससे देश में घरेलू निवेश बढ़ता है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश की राजकोषीय नीति उस देश के विकास की दिशा तय करती है।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) रिजर्व बैंक की नई मौद्रिक नीति 2023–24 की समीक्षा कीजिए।

उत्तर– रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के गवर्नर श्री शशिकांत दास ने अगस्त, 2023 में नई मौद्रिक नीति की घोषणा की। इसमें रेपोरेट (बैंक दर) 6.5% यथावत रखी गई।

भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा घोषित नई मौद्रिक नीति के तहत देश की अर्थव्यवस्था को अभाव तथा महँगाई से बचाने का प्रयास किया गया है। इससे देश में मुद्रा की उपलब्धि बढ़ेगी, जिससे उपभोक्ता माँग को बढ़ावा मिलेगा, औद्योगिक उत्पादन को गति मिलेगी एवं आर्थिक प्रगति दर की गति अधिक नहीं घट सकेगी। इससे सबसे अधिक लाभ केन्द्र सरकार को मिलेगा और उसे अपने बड़े-चढ़े व्यय की पूर्ति के लिए बाजार से सस्ती दर पर खूब उधार मिल सकेगा। उसका ब्याज भार घट सकेगा, क्योंकि बैंक रेट घटने से ब्याज दर भी घटेगी।

प्रश्न–(2) राजकोषीय नीति का अर्थ एवं उद्देश्य संक्षेप में बताइए।

उत्तर– राजकोषीय नीति का अर्थ - स्थिरीकरण अथवा विकास के लिए सरकार द्वारा कराधान और सार्वजनिक व्यय का उपयोग है। कुलबर्सटसन के अनुसार "राजकोषीय नीति का अर्थ सरकारी कार्रवाई द्वारा इसकी प्राप्तियों और व्यय को प्रभावित करना है, जिसे आमतौर पर सरकार की प्राप्तियों के रूप में मापा जाता है, यह अधिशेष या घाटे के रूप में होती है।"

सरकार सार्वजनिक व्यय और करों के द्वारा व्यक्तिगत आय के स्तर और सम्पूर्ण आय को भी प्रभावित कर सकती है।

आर्थिर के अनुसार "राजकोषीय नीति वह नीति है, जिसमें सरकार अपने व्यय तथा आगम के कार्यक्रम को राष्ट्रीय आय उत्पादन तथा रोजगार पर इच्छित प्रभाव डालने तथा अवांछनीय प्रभावों को रोकने के लिए प्रयुक्त करती है।"

राजकोषीय नीति उद्देश्य– राजकोषीय नीति के कुछ महत्वपूर्ण उद्देश्य निम्नलिखित है–

(1) आय एवं सम्पत्ति के समान वितरण को विशेष महत्व दिया जाता है।

(2) उत्पादक साधनों की क्षमता में वृद्धि को विशेष महत्व दिया जाता है।

(3) कीमतों में आने वाले अस्थायित्व को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

(4) देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति को निर्मित करना।

❑❑❑

वस्तुनिष्ठ प्रश्नोत्तर

(1) 'राजस्व लोक सत्ताओं द्वारा कोषों के व्यय करने एवं प्राप्त करने में निहित सिद्धान्त का अध्ययन है' यह परिभाषा किसने दी है?
(अ) डाल्टन (ब) फिलिप ई. टेलर
(स) फिण्डले शिराज (द) मसग्रेव।
उत्तर– (स) फिण्डले शिराज।

(2) डाल्टन ने राजस्व को कितने विभागों में विभाजित किया था?
(अ) 3 (ब) 4
(स) 5 (द) 6
उत्तर– (ब) 4

(3) निम्न में से कौन–सा पक्ष राजस्व के अध्ययन में शामिल नहीं किया जाता?
(अ) सैद्धान्तिक पक्ष (ब) व्यावहारिक पक्ष
(स) आदर्शात्मक पक्ष (द) राजनैतिक पक्ष।
उत्तर– (द) राजनैतिक पक्ष।

(4) राजस्व के क्षेत्र में कौन सम्मिलित नहीं है?
(अ) सार्वजनिक व्यय (ब) राजकोषीय नीति
(स) वित्तीय प्रशासन (द) मौद्रिक नीति।
उत्तर– (द) मौद्रिक नीति।

(5) अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त का वैज्ञानिक विश्लेषण किया–
(अ) केन्स ने (ब) डाल्टन ने
(स) मार्शल ने (द) जे.के. मेहता ने।
उत्तर– (ब) डाल्टन ने

(6) उपयोगिता किससे मिलती है?
(अ) लोक आय से (ब) लोक व्यय से।
(स) उपर्युक्त दोनों से (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) लोक व्यय से।

(7) डाल्टन के अधिकतम सामाजिक कल्याण सिद्धान्त को वार्षिक बजट द्वारा किसने निरूपित किया?
(अ) मसग्रेव (ब) श्रीमती हिक्स
(स) पीगू (द) मार्शल।
उत्तर– (अ) मसग्रेव।

(8) बाजार अर्थव्यवस्था की अकुशलताएँ क्या हैं?
(अ) एकाधिकार (ब) बाह्यताएँ
(स) लोक वस्तुए (द) उपर्युक्त।
उत्तर– (द) उपर्युक्त।

(9) सरकारी राजस्व का कौन–सा स्रोत है?
(क) कर (ब) व्यावसायिक आय
(स) प्रशासनिक आय (द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(10) सरकार के गैर–कर आगम के शामिल होते हैं–
(अ) उद्योगों से प्राप्त आय (ब) उपहार
(स) सरकारी सम्पत्ति से आय (द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(11) रेल, डाक, टेलीफोन, आदि सेवाओं के उपयोग के बदले में लिया जाता है–
(अ) कर (ब) जुर्माना
(स) विशेष कर (द) मूल्य।
उत्तर– (द) मूल्य।

(12) करारोपण के सिद्धान्त किसने दिए?
(अ) एडम स्मिथ ने (ब) डाल्टन ने
(स) फिण्डले शिराज ने (द) श्रीमती हिक्स ने।
उत्तर– (अ) एडम स्मिथ ने।

(13) एडम स्मिथ ने करारोपण का कौन–सा सिद्धान्त नहीं दिया?
(अ) सुविधा (ब) एकरूपता
(स) निश्चितता (द) मितव्ययिता।
उत्तर– (ब) एकरूपता।

(14) करारोपण में न्याय का सिद्धान्त नहीं है–
(अ) सेवा लागत सिद्धान्त (ब) सुविधा का सिद्धान्त
(स) सेवा लाभ का सिद्धान्त (द) कर देय योग्यता का सिद्धान्त।
उत्तर– (ब) सुविधा का सिद्धान्त।

(15) सेवा लागत सिद्धान्त के अनुसार सरकार को कर लगाना चाहिए–
(अ) सेवा से प्राप्त होने वाले लाभ के अनुपात में
(ब) सेवा की लागत के अनुपात में
(स) कर देने की क्षमता के अनुपात में (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) सेवा की लागत के अनुपात में।

(16) कर–देय योग्यता के आधार पर करारोपण लगाने का समर्थन किस अर्थशास्त्री ने किया?
(अ) श्रीमती उर्सला हिक्स (ब) एडम स्मिथ
(स) डाल्टन (द) बैस्टेबल।
उत्तर– (अ) श्रीमती उर्सला हिक्स।

(17) 'प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कर एक–दूसरे के पूरक हैं।' यह कथन है–
(अ) डाल्टन का (ब) डी मार्को का
(स) बैस्टेबल का (द) किण्डर बर्जर का।
उत्तर– (ब) डी मार्को का।

(18) किन करों में कर का दबाव एवं कर भार एक ही व्यक्ति पर पड़ता है?
(अ) प्रत्यक्ष कर (ब) अप्रत्यक्ष कर
(स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) प्रत्यक्ष कर।

(19) किस कर का विवर्तन होता है?
(अ) प्रत्यक्ष कर (ब) अप्रत्यक्ष कर
(स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) प्रत्यक्ष कर।

(20) आय कर उदाहरण है–
(अ) प्रत्यक्ष कर का (ब) अप्रत्यक्ष कर का
(स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (स) उपर्युक्त दोनों।

(21) आय के बढ़ने पर कर की दर कम होने की दशा में कर कहलाता है–
(अ) आनुपातिक कर (ब) प्रगतिशील कर
(स) प्रतिगामी कर (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (स) प्रतिगामी कर।

(22) कर–देय योग्यता का सिद्धान्त किस अर्थशास्त्री से सम्बन्धित है?
(अ) एडम स्मिथ (ब) मार्शल
(स) डाल्टन (द) मसग्रेव।
उत्तर– (अ) एडम स्मिथ।

(23) न्यूनतम कुल त्याग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किस अर्थशास्त्री ने किया?
(अ) एडम स्मिथ (ब) जे.एस. मिल
(स) एजवर्थ एवं कार्वर (द) बैस्टेबल।
उत्तर– (स) एजवर्थ एवं कार्वर।

(24) किस अर्थशास्त्री ने न्यूनतम त्याग के सिद्धान्त को करारोपण का अन्तिम सिद्धान्त कहा है?
(अ) पीगू (ब) मार्शल
(स) डाल्टन (द) एजवर्थ।
उत्तर– (अ) पीगू।

(25) समान राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किस अर्थशास्त्री ने किया?
(अ) एजवर्थ एवं कार्वर (ब) जे.एस. मिल
(स) डाल्टन (द) एडम स्मिथ।
उत्तर– (ब) जे.एस. मिल।

(26) कर का अन्तिम भार जिसे टाला नहीं जा सकता, कहलाता है–
(अ) कराघात (ब) करापात
(स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) करापात।

(27) कर विवर्तन प्रक्रिया है–
(अ) कराघात से करापात तक जाने की (ब) करापात से कराघात तक जाने की
(स) उपर्युक्त दोनों संभव (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) कराघात से करापात तक जाने की।

(28) पूर्ति और मांग की लोच बराबर होने पर कर भार–
(अ) क्रेता पर अधिक पड़ता है (ब) विक्रेता पर अधिक पड़ता है
(स) क्रेता और विक्रेता दोनों पर बराबर पड़ता है
(द) उपर्युक्त सभी असत्य।
उत्तर– (स) क्रेता और विक्रेता दोनों पर बराबर पड़ता है।

(29) प्रगतिशील करों से–
(अ) आय की असमानता बढ़ती है (ब) आय की असमानता घटती है

(स) आय स्तर अप्रभावित रहता है (द) उपर्युक्त सभी असत्य।
उत्तर– (ब) आय की असमानता घटती है।

(30) मुद्रा प्रसार में करारोपण–
(अ) बढ़ाया जाना चाहिए (ब) घटाया जाना चाहिए
(स) यथास्थिर बनाए रखा जाना चाहिए (द) उपर्युक्त तीनों सत्य।
उत्तर– (अ) बढ़ाया जाना चाहिए।

(31) सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त किस अर्थशास्त्री ने दिए?
(अ) एडम स्मिथ (ब) फिण्डले शिराज
(स) मसग्रेव (द) डाल्टन।
उत्तर– (ब) फिण्डले शिराज।

(32) जब कम आय वाले व्यक्तियों पर अधिक अनुपात में व्यय किया जाता है, तब यह कहलाता है–
(अ) प्रगतिशील व्यय (ब) आनुपातिक व्यय
(स) प्रतिगामी व्यय (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) प्रगतिशील व्यय।

(33) जब कम आय वाले व्यक्तियों पर अधिक अनुपात में व्यय किया जाता है तब यह कहलाता है–
(अ) प्रगतिशील व्यय (ब) आनुपातिक व्यय
(स) प्रतिगामी व्यय (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) प्रगतिशील व्यय।

(34) मन्दी के समय सार्वजनिक व्यय को–
(अ) घटाना चाहिए (ब) बढ़ाना चाहिए
(स) स्थिर बनाए रखना चाहिए (द) उपर्युक्त सभी असत्य।
उत्तर– (ब) बढ़ाना चाहिए।

(35) कौन–सा सामाजिक व्यय आय की असमानताओं को बढ़ाता है?
(अ) प्रतिगामी (ब) आनुपातिक
(स) प्रगतिशील (द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (अ) प्रतिगामी।

(36) लोक ऋण होते हैं–
(अ) ऐच्छिक (ब) अनिवार्य
(स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) ऐच्छिक।

(37) किसका ऋण भार कम होता है?
(अ) शोध्य ऋणों का (ब) अशोध्य ऋणों का
(स) उपर्युक्त में से दोनों का (द) अनिश्चित।
उत्तर– (ब) अशोध्य ऋणों का।

(38) लोक ऋण के बाह्य स्रोत हैं–
(अ) विश्व बैंक (ब) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(स) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(39) मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए किस प्रकार का बजट घोषित किया जाना चाहिए?
(अ) घाटे का बजट (ब) अतिरेक का बजट
(स) सन्तुलित बजट (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) अतिरेक का बजट।

(40) क्लासिकल अर्थशास्त्री समर्थक थे–
(अ) सन्तुलित बजट के (ब) घाटे के बजट के
(स) आधिक्य के बजट के (द) उपर्युक्त सभी के।
उत्तर– (अ) सन्तुलित बजट के।

(41) अनैच्छिक बेरोजगारी की दशा में केन्ज ने उचित बताया–
(अ) सन्तुलित बजट (ब) असन्तुलित बजट
(स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) असन्तुलित बजट।

(42) घाटे के वित्त से मुद्रा आपूर्ति–
(अ) बढ़ती है (ब) घटती है
(स) अप्रभावित रहती है (द) अनिश्चित रहती है।
उत्तर– (अ) बढ़ती है।

(43) घाटे का वित्त उत्पन्न करता है–
(अ) मंदी (ब) मुद्रा स्फीति
(स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) मुद्रा स्फीति।

(44) घाटे के वित्त से भुगतान सन्तुलन–
(अ) प्रतिकूल होता है (ब) अनुकूल होता है
(स) अप्रभावित रहता है (द) अनिश्चित रहता है।
उत्तर– (अ) प्रतिकूल होता है।

(45) निम्न में से कौन–सी दशा हीनार्थ प्रबन्धन का मुख्य उद्देश्य नहीं बनती?
(अ) समृद्धि काल (ब) मन्दी काल
(स) युद्ध काल (द) आर्थिक विकास।
उत्तर– (अ) समृद्धि काल।

(46) सरकार की कुल प्राप्ति पर कुल व्यय का आधिक्य स्पष्ट करता है–
(अ) मौद्रिकृत घाटा (ब) राजस्व घाटा
(स) राजकोषीय घाटा (द) बजटरी घाटा।
उत्तर– (द) बजटरी घाटा।

(47) केन्द्र सरकार के लिये भारतीय रिजर्व बैंक की शुद्ध साख में होने वाली वृद्धि को कहा जाता है–
(अ) प्राथमिक घाटा (ब) आगम घाटा
(स) पूँजीगत घाटा (द) मौद्रिकृत घाटा।
उत्तर– (द) मौद्रिकृत घाटा।

(48) संघीय वित्त व्यवस्था में कौन–सी सरकारें सम्मिलित हैं?
(अ) केन्द्र (ब) राज्य
(स) स्थानीय (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(49) किस कर में राज्य सरकार का हिस्सा नहीं होता?
(अ) सीमा कर (ब) आय कर
(स) मृत्यु कर (द) सम्पदा कर।

उत्तर– (अ) सीमा कर।

(50) भू–राजस्व है–
(अ) केन्द्रीय कर (ब) राज्य कर
(स) स्थानीय कर (द) अनिश्चित।

उत्तर– (ब) राज्य कर।

(51) निम्न में से कौन–सा कर राज्य सरकार द्वारा नहीं लगाया जाता?
(अ) उत्पादन शुल्क (ब) मनोरंजन कर
(स) सम्पत्ति कर (द) वाहनों पर कर।

उत्तर– (स) सम्पत्ति कर।

(52) बिक्री कर को किस से प्रतिस्थापित किया गया है?
(अ) व्यापार कर (ब) मूल्य–वर्द्धित कर
(स) वस्तु एवं सेवा कर (द) इनमें से कोई नहीं।

उत्तर– (ब) मूल्य–वर्द्धित कर।

(53) मौद्रिक नीति की घोषणा किसके द्वारा की जाती है?
(अ) रिजर्व बैंक गवर्नर द्वारा (ब) भारत सरकार द्वारा
(स) स्टेट बैंक द्वारा (द) वित्त मंत्री द्वारा।

उत्तर– (द) वित्त मंत्री द्वारा।

(54) मौद्रिक नीति का उद्देश्य है–
(अ) मुद्रा प्रसार पर नियंत्रण (ब) मूल्य स्थायित्व
(स) बैंकों की ऋण नीति का नियमन (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(55) मौद्रिक नीति का उपकरण है–
(अ) बैंक दर (ब) वैधानिक तरलता अनुपात
(स) नकद कोष अनुपात (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(56) राजकोषीय नीति का सम्बन्ध सरकार की कौनसी नीति से है?
(अ) कराधान नीति (ब) घाटे की वित्त व्यवस्था
(स) ऋण नीति (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(57) राजकोषीय नीति का उद्देश्य है–
(अ) रोजगार सृजन (ब) आर्थिक विकास
(स) मुद्रा स्फीति नियंत्रण (द) उपर्युक्त सभी।

उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(58) राजकोषीय नीति किसके द्वारा घोषित की जाती है?
(अ) भारत सरकार द्वारा (ब) केन्द्रीय वित्त मंत्री द्वारा
(स) प्रधानमंत्री द्वारा (द) रिजर्व बैंक गवर्नर द्वारा।

उत्तर– (ब) केन्द्रीय वित्त मंत्री द्वारा। ❑❑❑